सिद्धयोग

वर्ष-२६ : अंक- ९ दिसम्बर १९९३

संस्थापक :
योग योगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, सँवाई, आगरा

प्रकाशक :
श्री देवीप्रसाद शर्मा
'दिव्य'
कृते श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक
श्री 'दिव्य'

दिसम्बर
1993

इस अंक में पढ़िए

लेख / लेखक		पृष्ठ
★ व्रतं चरिष्यामि	....	1
★ योगी अमरनाथ जी —योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	....	2
★ इदं शरीरम् कौन्तेय ! (सम्पादकीय)	....	4
★ रमता जोगी बहता पानी —योगी रमताराम की डायरी से	....	7
★ स्वास्थ्य की चाबी—योग —आचार्य चन्द्रहास शर्मा, रीडर	....	9
★ साधना काल के मेरे अनुभव —ब्रह्मलीन स्वामी मुक्तानन्द	....	13
★ भगवान की दुस्तर माया —डा० श्यामप्रसाद शर्मा	....	17
★ सभ्यता और नागरिकता —डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी	....	21
★ देखो सवेरा आ रहा है ! (कविता) —डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	....	24
★ महर्षि चाणक्य के कुछ जीवन-सूत्र —व्याख्याकार—श्री रामावतार विद्याभास्कर	....	25
★ आशा — श्री विष्णुप्रसाद व्यास	....	29
★ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् —चाणक्य नीति से	....	33
★ गीता का अनासक्ति योग —(महात्मा गांधी का दृष्टिकोण)	....	35
★ श्री सद्गुरु चन्द्रमोहन—चालीसा —ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल	....	37

वार्षिक मूल्य 55 रुपया। एक अंक का मूल्य 6 रुपया
द्विवार्षिक मूल्य 100 रुपया।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २६
अङ्क ९

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशद योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

दिसम्बर
१९९३

॥ व्रतं चरिष्यामि ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ।,
—यजुर्वेद 1/5

अर्थात्

हे सच्चिदानन्द स्वप्रकाशरूप ईश्वराग्ने ! ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सत्यव्रतों का आचरण मैं करूँगा सो मेरे इस व्रत को आप कृपासे सम्यक् सिद्ध करें । तथा मैं अनृत अनित्य देहादि पदार्थों से पृथक् हो के इस यथार्थ सत्य को जिसका कभी विनाश नहीं होता उस विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूँ । इस मेरी इच्छा को आप पूरी करें जिससे मैं सभ्य, विद्वान्, सत्याचरणी, आपकी भक्तियुक्त धर्मात्मा हो सकूँ ।

योगी अमरनाथ जी

योग-योगेश्वर
अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

दो-चार घण्टे और प्रतीक्षा करो। स्वयं पता चल जायगा कि कहाँ जा रहे हैं? उस दिन अमरनाथ जी को भस्त्रिका प्राणायाम बारम्बार जारी होता था। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से अपने बड़े भाई लक्ष्मणदास जी को बुलाकर कहा भाई, आज एक वर्ष की अवधि पूरी हो गई है। मेरी यात्रा का दिन आज आ गया है। श्री अमरनाथ जी ने उनको लौकिक व्यवहार शुद्ध रखने की काफी शिक्षा दी और बारम्बार उनको समझाया—इस कलिकाल के घोर-अन्धकार पूर्ण समय में पूर्ण सद्गुरु का प्राप्त होना बहुत ही कठिन है। बड़े सौभाग्य की बात है कि आजकल आनन्दकन्द योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जो परिपूर्ण सद्गुरुतत्व के के अवतार हैं, इस पृथ्वी पर विराजमान हैं। उन्हीं करुणार्णव सर्वसमर्थ श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में तुम सब लोगों को अपना-अपना मन लगाकर इस जीवन को कृतकृत्य कर लेना चाहिए। मनुष्य-योनि और परिपूर्ण सिद्धों के महासिद्ध योगयोगेश्वर जी के चरण-कमलों की प्राप्ति; ऐसा मणि-कांचन संयोग फिर हाथ आए या न आए? ऐसा स्वर्ण-अवसर बार-बार नहीं मिला करता। यह उपदेश करने के पश्चात् अमरनाथ जी सब लोगों से कहने लगे—अच्छा, समय बिल्कुल निकट आ गया है। दो घंटे का मेरा एक संस्कार है उसका भी भुगतान कर लूँ।

उनके भाई लक्ष्मणदास जी उनकी बातें सुनते थे, पर अर्थ नहीं समझ पाते थे। जो थोड़ा अर्थ समझे भी थे, उस पर सहसा विश्वास न कर सके। वह नहीं समझ सके कि अमरनाथ जी दो घंटे बाद ही महायात्रा करने वाले हैं। देखते-देखते अमरनाथ जी को तीव्र-ज्वर हो गया। आश्चर्य की बात यह थी कि इस तीव्र-ज्वर की वेदना में भी उनका भस्त्रिका प्राणायाम पूर्ववत् निरन्तर चलता रहा और ध्यान-मग्न ही रहे। दो घण्टे की तीव्र-ज्वर वेदना के बाद वह सिद्धासन लगाकर ध्यान में लीन हो गये। ध्यान में बैठने से पूर्व उनके मुख से निकला—अच्छा भाई, मुसाफिर जा रहा है। तत्पश्चात्(वह पूर्णरूपेण तद्गत हो गए और भस्त्रिका प्राणा-याम निरन्तर चलता रहा। लोगों के देखते-देखते उनकी दृष्टि भ्रूमध्य हो गई और वह एक शान्त योगी की तरह निश्चल

योगी अमरनाथ जी की यौगिक साधना के विवरण के साथ ही पढ़िये इस लेख में श्री गुरुदेवजी की साधना के उनके अपने प्रेरक-संस्मरण भी।
—सम्पादक

हो गए। यह उनकी वह समाधि थी, जिसकी प्रतीक्षा वह बड़ी ही व्यग्रता से प्रिय अतिथि के समान कर रहे थे। अन्ततः भाई अमरनाथ जी इस पार्थिव शरीर को त्याग कर अपनी उस अनन्त यात्रा पर चल दिए जिसकी चर्चा वह प्रातःकाल से कर रहे थे। पास बैठा कोई भी व्यक्ति यह न समझ सका कि परमार्थ-मार्ग के सच्चे पथिक ने आज अपनी यात्रा को पूर्ण कर अपने लक्ष्य को पा लिया है। उनका शरीर गिर जाने पर भी उनके भाई लक्ष्मणदासजी ने यही समझा कि यह भी कदाचित् प्राणायाम की ही कोई गति है, जिससे बैठे-बैठे अकस्मात् ही इनका शरीर गिर गया है। परन्तु कुछ समय बाद सभी लोगों को उनके देहावसान की घटना पर विश्वास करना ही पड़ा।

भाई अमरनाथ जी ने देह-त्याग अपने ग्राम में ही किया था। फलस्वरूप विद्युत की भांति इस समाचार ने सारे गाँव में फैलकर सभी को आश्चर्यचकित कर दिया। सहसा सुनकर किसी को विश्वास नहीं होता था, कि सचमुच ऐसा हो गया होगा। झुण्ड के झुण्ड घटना की सत्यता जानने उस स्थान पर पहुँचने लगे। भाई अमरनाथ जी स्वभाव से ही सबको प्रिय थे। मृदुभाषी थे। इसके अतिरिक्त स्वयं कष्ट उठाकर भी सदैव परोपकार के लिए तत्पर रहते थे। उनके हृदय में लोक-हित की बड़ी भावनाएँ रहा करती थीं। अतः स्वाभाविक ही सभी को उनकी इस आकस्मिक मृत्यु का बहुत दुःख था। उस दिवंगत महान् आत्मा के लिए सभी का हृदय शोकाकुल था एवं उनके महान् गुणों का स्मरण सबको हो रहा था। इसके साथ ही साथ एक और विचार-धारा भी लोगों के मन में उठ रही थी। वे लोग मन में सोचते थे—यह इतने बड़े योगिराज के शिष्य थे। इन्होंने देह-त्याग तो अपने संकल्प से किया है, किन्तु कोई विशेष चमत्कार दिखाई नहीं दिया, न ही इनका कपाल-भेदन हुआ है।

क्रमशः अन्तिम संस्कार के लिए उनकी शव-यात्रा की तैयारी की गई और उनके मृत शरीर को दाह-संस्कार के हेतु श्मशान-भूमि में ले जाया गया। चिता-निर्माण हो जाने पर उनका शव चिता में रख दिया गया। ज्यों ही अग्नि-संस्कार प्रारम्भ हुआ, सभी एकत्रित ग्रामवासियों ने बड़ा भारी आश्चर्य देखा। उनकी चिता पर सहसा अनेकों प्रकार के वाद्य-यन्त्र बजने लगे। घण्टे-घड़ियाल, शंख, मृदंग आदि सभी बाजों की ध्वनियाँ चिता पर गूँज उठीं। परन्तु बजाने वाला कौन है? इसकी चेष्टा करने पर भी ज्ञात नहीं होता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो कोई वैदिक-मन्त्रों का गायन कर रहा हो। दिव्य आरती उतारी जा रही हो। चिता पर बजने वाले वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि धीरे-धीरे ऊपर उठती गई और शनैः-शनैः अन्तरिक्ष में विलीन हो गई।

जो योगाभ्यासी वहाँ उपस्थित थे, जिनको अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी; उन सभी ने खुली आँखों देखा कि भाई अमरनाथ जी एक देदीप्यमान श्वेत वर्ण के दिव्य विमान में विराजमान हैं एवं उनका स्वरूप चतुर्भुजी विष्णु भगवान् जैसा है। उनके विमान के

(आगे पेज 8 पर पढ़िये)

इदं शरीरम् कौन्तेय !

श्रीमद्भगवद्गीता में जगदात्मा भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने कुन्ती-पुत्र अर्जुन को निमित्त बनाकर संसार के प्रत्येक व्यक्ति को अपना यह लोक हितकारी सन्देश दिया है कि 'हे कौन्तेय ! यह देव-दुर्लभ मानव देह एक अमूल्य धरोहर के रूप में तुझे प्राप्त हुई है।' और प्राप्त हुई है इसलिए कि तू उचित रूपेण इसका उपयोग अपने तथा लोक-कल्याण के लिए करके अपने मानवोचित कर्त्तव्य का पालन कर सके। यदि तू अपने शास्त्र-विहित कर्त्तव्य-पालन हेतु इसका उपयोग न कर पाया तो निश्चय ही यह तेरी महान भूल होगी। ऐसी महान भूल कि जिसका प्रतिफल सिवाय अपनी दुर्गति और विनाश के अन्य कुछ दूसरा हो ही नहीं सकता है !'

अपने मनोभावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए भगवान ने एक सुन्दर और बुद्धि ग्राह्य रूपक प्रस्तुत करते हुए कहा है कि अर्जुन मेरा यह कथन तू सावधानी से सुन और सुनकर गम्भीरता से इस पर चिन्तन तथा मनन कर कि तेरी यह देह तेरा अपना कृषि-क्षेत्र है और तू स्वयं अपने को इस कृषि-क्षेत्र का अधिवासी कृषक समझ अतः इसमें शुभ कर्म रूपी बीजों को बोने का प्रयत्न सही ढंग से कर ताकि यह कर्म-बीज तुझे एक के अनेक होकर पौष्टिक फलों के रूप में से प्राप्त हो सकें। भगवान ने अपने भावों को जिन शब्दों में प्रकट किया है उन्हें श्री व्यासदेव ने जिस रूप में गीता में गुम्फित किया है—वे निश्चित ही बड़े प्रेरक और उद्बोधक हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय का आरम्भ ही उन्होंने देह-क्षेत्र के रूपक से इस प्रकार किया है।

> इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
> एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥
> क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
> क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

—गीता अ० 13/1-2

जगदात्मा ने यह भी समझाया कि इस देह का क्षेत्र का और इसके जानने वाले क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही तो सही रूप में ज्ञान कहा जाता है। साथ ही भगवान ने यह भी स्पष्ट

किया है कि जैसा यह देह क्षेत्र है वैसे देह क्षेत्र यहाँ अनगिनती हैं इन सभी क्षेत्रों का स्वामी तो मैं ही हूँ तू तो देही रूप में मात्र इस देह क्षेत्र को संभालने वाला, उसे बोने और जोतने वाला कृषक मात्र है। चूंकि सभी देह क्षेत्र विकारी और क्षण-क्षण में परिवर्तन ले आने वाले भूतों का समुच्चय ही हैं इसलिए इसके विकारों को पहचान कर तुझे उनका उन्मूलन भी करते रहने का प्रयत्न भी सतत् करते रहना है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि किसान अपने खेत में बोये गये बीजों के अंकुरित पौधों को बचाने के लिए उनके साथ उग आने वाले खर-पतवार को निराई करके अलग करता रहता है। अगर अनावश्यक और अवांछनीय खर-पतवार को काट-छाँट कर अलग न किया गया तो तुझे उत्तम बीजों की अनुकूल उत्तम फसल का पा लेना मुमकिन ही नहीं हो पायेगा।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कुछ ऐसा ही रूपक अपने 'रामचरित मानस' में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—

तुलसी काया खेत है मनसा भयौ किसान।
पाप-पुण्य द्वै बीज हैं, बुवै सु लुनै निदान॥

आगे वे पुनः लिखते हैं :

कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजें मोह मद माना॥

अर्थात् देह क्षेत्र में मान-मद मोह, लोभ आदि के अवांछनीय पौधे जो आ उगते हैं चतुर किसान का अपना कर्त्तव्य होता है कि वह शुभ कर्मों के बोये हुए अपने शुभ कर्म रूपी बीजों की फसल को नष्ट कर देने वाले खर-पतवार को उखाड़ कर अलग कर देने का पूरा प्रयास करता रहे। प्रमाद या अज्ञानवश जो किसान ऐसा नहीं कर पाते वे अभीष्ट फसल प्राप्त करने से वञ्चित ही बने रहते हैं।

देह-क्षेत्र और उसके विकारों का स्पष्ट परिचय भगवान ने गीता के इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अध्याय में दिया है। श्लोक संख्या 5 में पहले उन्होंने क्षेत्र का परिचय इस प्रकार दिया है :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणिदशैकं च पञ्चचेन्द्रियगोचराः ॥५॥ —गीता अ० 13/5

अर्थात्—पंच महाभूत, अहंकार-बुद्धि और अव्यक्त माया शक्ति, दस इन्द्रियाँ एक मन और पाँच विषय यानी शब्द स्पर्श रूप रस और गंध यह सब जो ब्रह्माण्ड में हैं वे इस देह क्षेत्र में भी हैं। बिना इनके मिश्रण के देह-क्षेत्र का अस्तित्व ही नहीं रहेगा, अतः इनके अस्तित्व की अनिवार्यता स्वाभाविक है।

इसलिए देह क्षेत्र के विकारों का पूरा परिचय इसके आगे के छठवें श्लोक में जगदात्मा ने इस प्रकार दिया है :

इच्छाद्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥ —गीता अ० 13/6

यह सब देह क्षेत्र के विकार हैं; इन विकारों में से कुछ को सर्वथा काट देना पड़ता है, और कुछ को मर्यादित करने से ही काम चल जाता है। जिन कुछ का नितान्त उन्मूलन करना पड़ता है वे हैं दम्भ-द्वेष, परिग्रह की लालसा एवं क्रोध, अविनय, उद्दण्डता अश्रद्धा प्रमाद, नियत समय पर नियत कार्य न करने की आदत, प्रयत्न पुरुषार्थ आदि से विमुख होकर रहना इत्यादि विकार ऐसे हैं जिन्हें देह-क्षेत्र में उन्नतिशील शुभ कर्मों की फसल उगाने के लिए चतुर किसान की भाँति जड़ मूल से उखाड़ फेंकना ही श्रेयस्कर रहता है।

इच्छा सुख-दुःख यह सब भी देह क्षेत्र में ही अपना अस्तित्व रखते हैं। बिना इच्छा के कोई क्रिया सम्पादित ही नहीं हो सकती। सुख की वृत्ति भी इस क्षेत्र में पड़ी हुई है सभी इसकी आकांक्षा भी रखते हैं किन्तु साधक को इतना ध्यान रखना होता है, कि इनकी बढ़ोत्तरी मर्यादित रहे। कहीं ऐसा न हो कि यह सब हृदय-भूमि में अंकुरित होकर जीवन के उद्देश्य रूपी पौधे का विकास ही रोक दें। यदि ऐसा हुआ तो देह क्षेत्र पा लेने का लाभ ही क्या रहा ?

भगवान पतञ्जलि ने इसीलिए इच्छाओं के निरोध का यानी इन्हें जगत जंजालों की ओर बहने से रोककर प्रभु की ओर उन्मुख करने के अभ्यास को सतत् करते रहने का परामर्श दिया है। अमर्यादित इच्छायें ही रजोगुण और तमोगुण का संग पाकर लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा के विषैले झाड़-झंकार में बदल कर देह-क्षेत्र को नष्ट कर डालने का कारण बन जाती हैं। अतः सजग और चतुर किसान को इन पर सदा ध्यान रखने की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

अगले लेख में हम इन सब विकारों का परिचय और उनके उन्मूलन की विधि पर और अधिक प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। —सम्पादक

★ जब तुम दूसरों से अपने शरीर की सेवा कराओ, तब इस बात का ध्यान रक्खो कि अपने हाथ-पैरों में काम करने की शक्ति रखते हुए स्वयं काम न करके जब दूसरे से काम लेते हो, तब तुम उस समय कौन-सा विशेष कार्य करते हो ? यदि तुम काम न करके व्यर्थ बैठे हुए दूसरों से अपने शरीर की सेवा करवाते हो, तब ईश्वर की ओर से मिले हुए हाथ-पैरों का अनादर ही करते हो। —साधुवेश में एक पथिक

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी।
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी'॥

देहभावना, अहंमुक्ति

शेर के बच्चे की एक कहानी है। उसे जन्म से ही भेड़ों के साथ रखा गया था। उसे जो संस्कार मिला उससे उसे यही लगता था कि वह भेड़ का ही बच्चा है। उसका जीवन भेड़ों जैसा ही चलता रहा। परन्तु कभी एक बार जंगली शेर ने उसे भान कर दिया कि वह भेड़ नहीं, शेर है, तब फौरन उसका सिंहत्व जाग गया और शेर की तरह जीने लगा।

मनुष्य की भी यही स्थित है। वह अक्सर भूल जाता है कि वह आत्मा है; यही मानकर चलता है कि वह देह है। इसीलिए उसे बार-बार दुःख भोगने पड़ते हैं। देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की प्रेरणा से चलने के कारण ही वह दुःख का शिकार बनता है। आत्मा होते हुए भी वह जीव बनता है। उस पर कोई नाराज होता है तो उसे दुःख होता है, क्योंकि वह देह इन्द्रिय मन आदि से एकरूप होता है। देह इन्द्रिय आदि तो नश्वर हैं, इसलिए उन पर यह प्रतिक्रिया होती है। आत्मा पर किसी भी नश्वर वस्तु की प्रतिक्रिया नहीं होती। क्योंकि आत्मा अविनाशी है, अविकारी है, अपरिवर्तनीय है। आत्मा पर क्रोध का आघात नहीं होता, वह सुख-दुःखातीत है।

अक्सर हम कहते हैं, 'वह मुझ पर नाराज हुआ।' वस्तुतः 'मैं' तो आत्मा है, वह नाराज नहीं है। लेकिन हम मान लेते हैं कि मैं यानी यह देह है, इसीलिए किसी की नाराजी से हमें दुःख होता है। इसी प्रकार यह भी सुनने में आता है, 'मुझे कांटा चुभा' 'मुझे मार डाला' आदि। यह भी गलत शब्द-प्रयोग है। क्योंकि कांटा आत्मा को नहीं, देह को चुभा है। 'मुझे मार डाला' का अर्थ मैं मर गया, ऐसा होता है, परन्तु आत्मा अविनाशी है तो वह कैसे मरेगा? देह मर सकती है। लेकिन इन शब्द प्रयोगों में भी यही भूल है कि हमने देह पर आत्मा का आरोपण किया है, देह को ही आत्मा मान लिया है।

मेरी पत्नी मरती है या बच्चा बीमार पड़ता है तो मुझे दुःख होता है। वास्तव में इस आत्मा के क्या पत्नी है और क्या बच्चा? कुछ नहीं। अपने को शरीर मान लेते हैं और उसकी ममता बढ़ा लेते हैं, इसीलिए ये सारे सम्बन्ध बनते हैं और दुःख आते हैं। आत्मा का विस्मरण और शरीर की आसक्ति ही दुःख का कारण है।

एक और उदाहरण से यह विषय स्पष्ट होगा। दूर देश में रहने वाला अपना कोई मित्र या रिश्तेदार दुःखी होता है तो मैं मान लेता हूँ कि मैं ही दुःखी हूँ। यद्यपि दोनों

के शरीर भिन्न हैं, तो भी मुझे दुःख होता है। वस्तुतः मेरी आत्मा का उस दुःख से कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन देह पर आत्मा का आरोपण कर लिया इसलिए दुःख भोगता हूँ। यह आरोपण चित्त के अविवेक के कारण होता है।

आत्मा पर देह का आरोपण करते हैं इसीलिए यदि शरीर का सम्मान होता है तो हम उसे अपना (आत्मा का) ही सम्मान मानकर आनंदित होते हैं और सम्मान करने वाले से प्रेम करते हैं; इसके विपरीत देह की निन्दा करने वाले से, देह का अनादर करने वाले से द्वेष करने लगते हैं।

देह के नष्ट होने का प्रसंग आने पर उसे अपना ही नाश समझकर हम दुःखी होते हैं, क्योंकि हमें देह से प्रेम हो गया है, देह के प्रति आसक्ति बन गयी है। तभी तो उसके प्रति मोह होता है और मृत्यु की कल्पना से भी भय लगता है।

स्वयं आत्मा होते हुए भी अपने को देह मानना ऐसा ही है जैसे अमृत को कांजी मानना, लाल रतन को कौड़ी मानना। इसी को ध्यान में रखकर संतकवि ने कहा—'कौड़ी को तो खूब सँभाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया ?'

आत्मा पर देह का आरोप करके अपने को 'देह' मान लेने से आत्मा के गुणों से हम वंचित रह जाते हैं। अमृत को कांजी मानकर उसकी अवहेलना कर दें तो भला अमृत के गुण हमें कैसे मिल सकेंगे ? लाल रतन को कौड़ी समझकर फेंक दें तो रतन का लाभ कैसे मिल सकेगा ?

कुछ लोग आत्मा पर देह का आरोपण करते हैं तो कुछ लोग देह पर आत्मा का आरोपण करते हैं। देह पर आत्मत्व का आरोपण करने वाले को ही सर्वस्व मानते हैं, देह की इच्छाएँ पूरी करने में ही उन्हें रस आता है; खाने, पीने और मौज मनाने में ही वे अपनी धन्यता समझते हैं। उनकी मनोवृत्ति यही होती है—'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्', (उधार करके भी पीते चलो)। क्योंकि उनकी धारणा होती है "भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?"—'देह भस्म हो गयी तो फिर वह कहाँ मिलेगी ?'

देह को ही आत्मा मान लेने पर मनुष्य देह में ही बन्ध जाता है। आत्मज्ञान की जिज्ञासा रहती नहीं। कांजी को ही जब अमृत मान लिया, तब वास्तविक अमृत पाने की इच्छा क्यों होगी ? कौड़ी को ही रत्न मान लेने पर असली रत्न को पाने की कोशिश कोई क्यों करेगा ?

★

(शेष पेज 3 का)

आस-पास बहुत से दिव्य वाद्य-यन्त्र बज रहे हैं। विमान पर दिव्य-पुष्पों की वृष्टि हो रही है। श्री अमरनाथ जी ने चिताभूमि पर उपस्थित समुदाय को एक बार देखा और कहा—"मैं अपने परम कृपानिधि सद्गुरुदेव जी की परम कृपा से वैकुण्ठवासी हो रहा हूँ।" केवल-मात्र ध्यानाभ्यासी ही इस अलौकिक दृश्य को देख सके एवं अमरनाथ जी के उपर्युक्त शब्द सुन सके। देखते-देखते अमरनाथ जी का विमान ऊपर उठते-उठते अन्तरिक्ष में विलीन हो गया। यह सब दृश्य देखकर आश्चर्यचकित हुए ग्रामवासी अपने अपने घरों को लौटने लगे एवं गद्गद्कण्ठ होकर "योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी की जय" इस प्रकार की जय-जयकार की ध्वनि बारम्बार मुख से उच्चारण करने लगे। इस घटना को जानने वाले ग्राम निवासी अब भी उस ग्राम में उपस्थित हैं।□

□ आचार्य चन्द्रहास शर्मा

स्वास्थ्य की चाबी—योग

हमारा शरीर हमारी आत्मा का मन्दिर है। शरीर की हिफाजत होती रहे तो आत्मबोध आसानी से सम्भव है। शरीर यदि व्याधि पीड़ित है अथवा मल, आवरण या विक्षेप से ग्रस्त है तो मन शरीर की ओर लगा रहेगा। रोगी शरीर से साधना नहीं हो सकती। हमारे पूर्वजों ने शरीर को साधना का सोपान और मोक्ष का द्वार कहा है। शरीर द्वारा ही तप, व्रत, जप और उपासना होती है। 'शरीर माद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह कथन सर्वथा सत्य है। शरीर से ही धर्म को प्राप्त करने के उपाय किये जा सकते हैं। अतः शरीर को स्वस्थ रखना सर्वोपरि कर्त्तव्य है। पतञ्जलि-योगदर्शन में योग के विघ्नों के प्रसंग में योग के नौ विघ्नों में व्याधि सबसे पहला और प्रमुख विघ्न है। व्याधि ग्रस्त व्यक्ति कोई पुरुषार्थ करने में सफल नहीं हो पाता। अतः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की उपलब्धि के लिए अपने शरीर को निरोग रखने का सतत् उपाय करने वाला साधक अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। गरुड़ पुराण में विस्तार से शरीर की आवश्यकता और नीरोगिता का विचार किया गया है। शरीर से सभी व्यक्ति प्रेम करते हैं, है भी प्रेम करने लायक वस्तु! परमात्मा की कुशल कारीगरी का अद्भुत नमूना है यह शरीर! अरबों रुपये खर्च करके भी शरीर के किसी एक अंग को प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसे अद्भुत शरीर की हर स्थिति में हर प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। शरीर-रक्षा का लाभ यह होगा कि इससे धर्म और अर्थ का यथेष्ट उपार्जन सम्भव हो सकेगा। धर्म से ज्ञान लाभ होगा। ज्ञान होने पर ध्यान और ध्यान से योगसिद्धि प्राप्त होगी। योग से जन्म-मरण का बन्धन सदा के लिये छूट जायगा।

'तद्गोपितं स्याद्धर्मार्थं, धर्मो ज्ञानार्थमेव च।
ज्ञानं तु ध्यानयोगार्थम चिरात्प्रमुच्यते ।।
—गरुड़ पुराण

प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मानुसार ही पाप और पुण्य का फल भोगता है। ईश्वर काल और देश तथा निमित्त के द्वारा कर्मों का फल प्रदान करते हैं। कर्मफलवश मनुष्य ऐसी जगह जा पड़ता है जहाँ उसका आहार-विहार दूषित हो जाता है और उसे रोग आ घेर लेते हैं। इस प्रकार वह पाप कर्मों का फल व्याधियों के रूप में भोगता है। ईश्वर ने मनुष्य के कर्मफल के लिए ग्यारह प्रमुख ग्रहों को नियुक्त किया है। ये सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु, केतु प्लूटो और नेपच्यून काल के चक्र पर आरूढ़ होकर व्यक्ति को उसके कर्मों का फल रोग और आरोग्य के द्वारा दिया करते हैं। इन ग्रहों के प्रभाव से वातज, पित्तज, कफज, रक्तज

तथा बुद्धिगत रोग उत्पन्न हो जाते हैं और जब तक कर्मफल पूरा नहीं होता तब तक पीछा नहीं छोड़ते। शरीर के विभिन्न अवयवों पर विभिन्न ग्रहों का प्रभाव पड़ता है। जैसे शनि का स्थान नाभिस्थान पर है। जब तीव्र पाप-कर्म का फल-भोग उपस्थित होता है तो शनि की ड्यूटी लगती है। शनि पाचन क्रिया को खराब कर प्राण और अपान का सम्बन्ध विपरीत कर देता है और बुद्धि में विचार शक्ति को प्रभावित करके प्रज्ञापराध पैदा कर देता है। जिससे व्यक्ति गलत समय में गलत वस्तुओं का सेवन करने लगता है या न करने योग्य कर्मों को करने लगता है। परिणाम यह होता है कि वह लकवा, हार्ट अटैक, तथा उदर-व्याधियों एवं हृदय की व्याधियों से ग्रस्त होकर व्याकुल बना रहता है। अपने कर्म-चक्र को योग के जप, ध्यान, धारणाध्यान प्राणायाम आदि सत्कर्मों के द्वारा ठीक कर व्याधियों से शीघ्र छुटकारा पाकर साधना में हम अग्रसर हो सकते हैं। जितने भी शरीरधारी प्राणी हैं वे सभी कर्म चक्र में ही भ्रमण करते हैं। अतः कोई भी पूर्ण नीरोगी नहीं है। कोई शरीर से रोगी है, मन से तो कोई हृदय से, कोई चित्त और कोई बुद्धि-विकार ग्रस्त है :

'अस्मिन् वै मानुषे
लोके मानवाः व्याधिपीड़िताः।
शारीराः हृदयस्थाः
चित्तजाः बुद्धिजास्तथा ॥
व्याधयः परिहृश्यन्ते
निर्व्याधिस्तु न लौकिकः ॥

महर्षि पतंजलि ने शरीर, मन, (चित्त) और बुद्धि के मलों को दूर करके व्यक्ति को नीरोग बनाकर साधना-परायण बनाने के लिए तीन भिन्न-भिन्न शास्त्रों का हमें उपदेश दिया है। आयुर्वेद में शरीर को स्वस्थ करने का उपदेश है। चित्त और मन की नीरोगता के लिए योगशास्त्र का उपदेश है तथा बुद्धि के आरोग्य के लिए शब्दशास्त्र का उपदेश है। योगदर्शन के 'मन्त्रौषधिजपः समाधिजाः सिद्धयः' इस सूत्र में मंत्र जप का आशय विधान शब्दशास्त्र है तथा औषधि वैद्यक शास्त्र सम्मत है तथा तप (प्राणायाम) और ध्यानःसमाधि से योगशास्त्र अभिमत है। इस प्रकार तीनों प्रकार की साधन-सम्पत्ति के सदुपयोग से योगारूढ़ता प्राप्त होती है तथा कायिक, ऐन्द्रिय एवं आध्यात्मिक सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं।

इन्द्रियाँ जब अपने-अपने विषयों में लिप्त होती हैं तो उसे भोग कहा जाता है। भोग से रोगों का जन्म होता है। भोग और रोग दोनों से ही शक्ति और स्वास्थ्य में बदलाव लाया जाता है। योग विधि से शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध के गुण-धर्म वाले विषयों को भोगा जाय तो ये ही विषय शक्ति, बल और ऐश्वर्य तथा आनन्दप्रद बनकर रोगों को नष्ट कर उत्तम तेज और कान्ति को प्रदान करते हैं। जब उत्तम स्वास्थ्य होगा तो मन में साधना के प्रति उत्साह होगा। शक्ति को सम्भालने की सामर्थ्य होगी। जब शक्ति को पूर्णरूपेण अपने अन्दर जज्ब कर लिया जायगा तभी समाधि प्रज्ञा पैदा हो सकेगी, जिससे सत् और असत् का विवेक होकर अविद्या को छोड़कर विद्या की उपलब्धि हो सकेगी। अविद्या ही विपरीत बोध कराती है, जिससे भ्रान्ति और संशय चिन्ता तथा अनात्म में आत्म बोध अग्राह्य का ग्रहण करने की इच्छा एवं अगम्य का गमन करने की चाह बलवती होती है। जीवन की

विपरीत गति से शरीर, मन, चित्त और बुद्धि पर धक्का लगता है। यह आघात ही रोग के नाम से जाने जाते हैं। यदि शरीर, मन, हृदय और बुद्धि कल्याणकारी सरल मार्ग पर चलने लगें तो शक्ति प्रवाह की अनुकूल गति के कारण प्रसन्नता, आनन्द और नीरोगिता सदा साथ देंगे।

रोग की अवस्था में ध्यान धारणा और समाधि का अभ्यास सम्भव नहीं हो पाता। शास्त्रकारों ने 'रोगापहृतिध्यानिम्' ऐसा ध्यान का लक्षण किया है। जिसका तात्पर्य है कि ध्यान रोग के ग्रस्त होने पर ही निष्फल होता है। ध्यान से रोग नष्ट भी किये जा सकते हैं। वस्तुतः सभी रोगों का आश्रय मल है। आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि 'सर्वेरोगाः मलाश्रयाः'। यदि मलशुद्धि न हो तो रोग हो जाते हैं। क्योंकि मल चिति शक्ति के मार्ग को रोककर गुणों और शक्ति प्रवाह को आच्छादित कर देता है, जिससे शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा मलयुक्त होकर शक्तिहीन हो जाया करते हैं। इन चारों स्तरों से मल की शुद्धि किये बिना योग सिद्ध नहीं होता। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि रोगी होना सबसे बड़ा पाप है। बुद्धि के भ्रम और संशय से प्रज्ञापराध हो जाता है। प्रज्ञापराध से खाद्याखाद्य, करणीय अकरणीय तथा चिन्तनीय और अचिन्तनीय का बोध भी नहीं रह पाता। जिससे देश-काल, अवस्था तथा मात्रा का विचार किये बिना हम आहार-विहार करने लगते हैं। अपने आचार-विचार पर संयम का अंकुश नहीं लगाते। इन सब बातों का परिणाम होता है—स्थिति में उतार-चढ़ाव या स्थिति में अस्थिरता। मन भी चञ्चल और बुद्धि भी अस्थिर। सब तरह से हालत डांवाडोल हो जाती है। रोग शब्द संस्कृत भाषा की 'रुज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर बना है। 'रुज्' का अर्थ मन का अनास्थायुक्त होना, तथा शरीर की चेष्टाओं में गतिरोध होना है। जिन तत्वों से श्रद्धा और विश्वास खण्डित हो वे रोग होते हैं। शरीर में जीवन-दायी तत्वों की कमी होने पर रोगों का प्रादुर्भाव होता है। तत्वों की कमी मल, विक्षेप और आवरण से आती है। अतः यौगिक व्यायाम, षट्कर्म, प्राणायाम बन्ध-मुद्रा तथा धारणा ध्यान से निर्मल प्रकाश स्वरूप, शक्ति स्वरूप सर्वव्यापक आत्मशक्ति को अपने शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा में व्याप्त करनी चाहिये।

किसी भी प्रकार की व्याधि क्यों न हो, जीवन नरक तुल्य हो जाता है। रोगी तो कष्ट पाता ही है उसकी तीमारदारी करने वाले भी कम कष्ट नहीं पाते। व्याधिग्रस्त होकर शरीर त्याग करने पर सद्गति नहीं हो पाती। अतः प्रत्येक प्रकार की व्याधि की जीते जी चिकित्सा कर लेनी चाहिये। अन्यथा मृत्यु का ग्रास बनने के बाद कर्म करने की सामर्थ्य के अभाव में जन्म-मरण की महाव्याधि की चिकित्सा भला कैसे कौन करेगा? शरीर के रोगों की चिकित्सा उचित आहार-विहार, पथ्य सेवन काष्ठादि, रस रसायन, अवलेह, आसव, अरिष्ट, इंजेक्शन, चीरफाड़, अंग प्रत्यारोपण आदि बाह्य उपायों से कर लेना चाहिये। मानसिक

रोगों का उपचार ध्यान योग की क्रियाओं द्वारा करना श्रेयस्कर है। आगन्तुक रोगों का उपचार भी ध्यान द्वारा किया जा सकता है। जैसे ठंड से उत्पन्न रोगों को सूर्य भेदी प्राणायाम तथा नाभिमण्डल पर सूर्य की धारणा द्वारा किया जा सकता है। इसी प्रकार गर्मी से पैदा हुए रोगों को आज्ञा चक्र में चन्द्रबिम्ब की धारणा से तथा शीत्कारी एवं शीतली प्राणायाम से किया जा सकता है। समशीतोष्णज रोगों की चिकित्सा अनुलोम-विलोम प्राणायाम पूर्वक नासिकाग्र धारण द्वारा की जा सकती है। ध्यान द्वारा हम शरीर, इन्द्रिय, मन से परे जाग्रत, स्वप्न से परे सुषुप्ति दशा में पहुँचकर चित्त के स्तर पर पहुँचकर उसमें प्रवाहित आत्म-शक्ति का उद्बोधन कर कार्य के संस्कार जो रोगों के रूप में उदित हो रहे हैं उन्हें दग्ध बीजभाव भाव द्वारा निष्क्रिय कर देते हैं। इसी प्रकार बुद्धिगत दोषों से उदर-रोग और हृदय रोग होते हैं। उन्हें ॐकार, गायत्री मंत्र, सरस्वतीमंत्र तथा बीजमंत्रों के जप द्वारा दूर किया जा सकता है। चित्तज रोग, मोह जड़ता, आसक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। लययोग तथा तथा नादानुसंधान की षण्मुखी मुद्रा में स्थिर होकर नादश्रवण के अभ्यास से चित्तज रोग दूर किये जा सकते हैं।

पंचकोश परिचय

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय, ये पाँच कोश हैं।

1. अन्न के रस से उत्पन्न होकर और अन्न के रूप से ही वृद्धि को प्राप्त होकर पीछे अन्न रूप पृथ्वी में ही लीन होता है, ऐसे स्थूल शरीर को ही अन्नमय कोश कहते हैं।
2. पंच कर्मेन्द्रिय सहित पंच प्राण को प्राणमय कोश कहते हैं।
3. पंच ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोश कहते हैं।
4. पंच ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं।
5. कारण शरीर रूप जो अविद्या तिष विषे स्थित जो प्रिय, मोद प्रमोद रूपी वृत्तियों का नाम आनन्दमय कोश है।

साधना काल के मेरे अनुभव

☐ ब्रह्मलीन स्वामी मुक्तानन्द

(पूर्व प्रकाशित से आगे)

तेजपुञ्ज के दर्शन

तत्पश्चात् मैंने अपने चारों ओर अग्नि-शिखाओं को उठता हुआ देखा। मुझे लगा अग्नि के साथ मैं भी जल रहा हैं। थोड़ी देर बाद मैं स्वस्थ-सा हुआ। तभी सहसा मैंने एक तेजपुञ्ज को सामने से अपनी ओर आते हुए देखा जैसे-जैसे तेजपुञ्ज निकट आता गया, उसका प्रकाश बढ़ता गया। वह निर्बाध मेरी कुटीर के बन्द द्वारों से प्रविष्ट होकर मेरे मस्तिष्क में समा गया। मेरी आँखें अनायास मुँद गयीं और मुझे मूर्छा-सी आ गई। मैं उस प्रचण्ड तथा चकाचौंध कर देने वाले प्रकाश से इतना भयभीत हुआ कि अपना सारा आपा खो बैठा। वह तेजपुञ्ज अवर्णनीय था। जैसे किसी कवि सन्त ने कहा है :

कोटिक रवि तेज प्यारे, दीपक ज्योति क्या कहूँ।

मैं उस प्रकाश को अपने सिर में देख सकता था। मैं पुनः भयभीत हो गया, क्योंकि वह प्रकाश एक क्षण तो प्रचण्ड अग्नि के समान दीखता था, और दूसरे ही क्षण ऐसे गहन अन्धकार में परिवर्तित हो जाता था कि आगे-पीछे कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता था।

अन्ततः मुझे एक नील ज्योति दिखाई दी जो बढ़कर फिर एक छोटे मोती जैसी हो गई। मेरे सामने स्थिर रहकर फिर वह मोती चमकने लगा। वह मोती इतना सुन्दर, इतना विस्मय-विमुग्ध करने वाला था कि मैं भय से सर्वथा मुक्त हो गया। तब वह फिर बड़ा होकर मेरे इर्द-गिर्द वर्तुलाकार चक्कर लगाने लगा।

अकस्मात् मेरी जिह्वा तालु से चिपक गई और मेरी खेचरी मुद्रा लग गई। सिर वक्षस्थल पर झुक गया। मैंने हठात् 'श्री गुरुदेव' उच्चारित किया। मुँह से इन शब्दों के निकलने की देरी थी कि सभी कुछ शांत हो गया। क्रियाएँ बन्द हो गयीं, हाथ-पैर खुल गए और मैं उठकर बाहर चला गया। पूर्णिमा के प्रकाश में कण-कण आलोकित हो रहा था। सर्वत्र निस्तब्धता का साम्राज्य था, कहीं कोई कोलाहल नहीं था। मैं अपने को बिलकुल ताजा और उन्मुक्त महसूस कर रहा था। मैं कुटीर में वापस चला गया। साढ़े ग्यारह बज चुके थे। यौगिक अनुभवों की उपरोक्त सभी प्रक्रियाएँ ढाई घण्टे तक चलती रही थीं।

तत्पश्चात् मैं बिस्तर पर लेट गया और सोने की कोशिश करने लगा, लेकिन सो न सका। अतः पद्मासन लगाकर मैं फिर ध्यान के लिए बैठ गया। बैठते ही पहले देखे गये सभी दृश्य 'विजन' पुनः दिखाई देने लगे। मैंने आसन छोड़ दिया। शरीर में असह्य दर्द हो रहा था। मुझे नींद बिलकुल न लग सकी। मैं अजीब परिस्थिति में था। यदि सोने की कोशिश करता तो कानों में पर्दे चीर देने वाली आवाज़ें सुनाई पड़तीं, और दूसरी ओर बिलकुल थका होने के कारण जगा भी नहीं रह सकता था।

पशुओं की आवाज

किसी प्रकार सुबह हुई। मैंने स्नान कर चाय ली और हर रोज की तरह ध्यान में बैठ गया। ध्यानस्थ होते ही मेरे गले से कुत्ते, ऊँट, सिंह और बाघ जैसी आवाजें निकलने लगीं। इन आवाजों को सुनकर आस-पास घास चरते हुए पशु डर कर भागने लगे। मेरे मन में ग्लानि हो आई। मुझे लगा मैं भ्रष्ट और शापित हो गया हूँ। साधना के दौरान इस प्रकार की घटनाएँ अनदेखी और अनसुनी थीं।

इतने में हरिगिरि बाबा नाम के एक बड़े सिद्ध-पुरुष जो मुझसे बहुत प्रेम करते थे, वहाँ तांगे में आ गए। उन्होंने कहा—"महाराज, उठो और जरा इधर आओ।" उस समय मैं अपनी कुटिया के बाहर एक पेड़ के नीचे बैठा हुआ था। उन्हें देखकर मुझे कुछ सन्तोष हुआ। मैंने उन्हें बताया कि मेरा बुरा समय आ गया है और मैं अत्यन्त उद्विग्न हूँ। उन्होंने कहा—"मैं सब जानता हूँ, तुम्हें क्या हो रहा है, लेकिन बताऊँगा तभी जब मुझे दो रुपए दोगे।" मैं जानता था कि वह इसी तरह दूसरों को छेड़ा करते हैं। मेरे दो रुपए देने पर वह बोले—"यह तेरा बुरा नहीं बल्कि अच्छा समय है। भविष्य में तेरा अच्छा होने वाला है; तू देव बनेगा। आजकल तुझे 'हितज्वर' हुआ है। तेरी बीमारी की छूत जिसको लगेगी, उसका रोग और कष्ट मिट जायगा।"

मैं पुनः ध्यान में बैठा तो मुझे फिर नाभि के नीचे 'मणिपुर चक्र' में असह्य दर्द महसूस हुआ। मुझे अनेक प्रकार के दृश्य दिखने लगे। नग्न स्त्री-पुरुष भी दिखाई दिए। एक पूरा दिन और रात इसी तरह गुजरी। शरीर बहुत दर्द करता रहा। मेरे भीतर विषाद बढ़ता गया। मैंने सोचा कि शायद मैं अपने संन्यस्त धर्म से भ्रष्ट हो गया हूँ जो मुझे इन दुखद परिस्थितियों से गुजरना पड़ रहा है। मुझे पूरा विश्वास हो गया कि मुझसे कुछ अनुचित बात हो गई है।

मुझे अपने स्वाभिमान का बहुत ध्यान रहता था। किसी से कुछ माँगना अथवा दीनता दिखाना मुझे अच्छा नहीं लगता था। ऐसा सोचकर कि मैं अपने संन्यास-धर्म से च्युत हो गया हूँ, मैंने अपने गेरुए वस्त्र उतार कर पेड़ पर लटका दिए। शरीर पर केवल कौपीन धारण कर और हाथ में कमंडल और शाल लेकर मैं पूर्वाभिमुख होकर चल पड़ा। मैंने किसी को कुछ नहीं बताया और कुटीर के द्वार खुले छोड़ दिए। उस समय मेरी अवस्था पागलों के समान थी, मैं नहीं चाहता था कि कोई मुझे पहचाने। कठिन पद-यात्रा कर मैं किसी तरह निजाम राज्य में दौलताबाद जा पहुँचा। वहाँ मैंने कुछ दूध पीया। अगले दिन दौलताबाद किले पर चढ़कर मैंने जनार्दन स्वामी की समाधि के दर्शन किए। वहाँ पर भी आँखें बन्द कर जब मैं कुछ देर के लिए बैठा तो वे ही दृश्य मुझे फिर दिखाई दिए।

किले से उतर कर फिर बालाघाट पहाड़ियों के किनारे-किनारे मैं पूर्व दिशा की ओर बढ़ा। मैं रास्ते में पड़ने वाले प्रत्येक गाँव से बच कर निकलता क्योंकि मेरे मुँह से अभी तक जंगली जानवरों की आवाजें निकल रही थीं। वन में गुजरते हुए कभी-कभी मैं नृत्य कर उठता। मैं आश्चर्य चकित था कि यह सब क्या हो रहा है। जीवन के प्रति उदासीनता आ गई।

इसी तरह चलते-चलते मैं नागद पहुँचा। वहाँ पहाड़ की तहलटी में सन्तरे और मौसम्बी का बगीचा था, मैं अन्दर घुसा तो इधर-उधर एक कुटिया दिखाई दी। कुछ देर बाद कोई व्यक्ति बगीचे से दौड़ता हुआ मेरे पास आया। उसने बताया कि उसका नाम दगडूसिंह है और वह वहाँ का मालिक है। मेरा उसने खूब आदर-सत्कार किया। वह श्रीमंत, योगाभ्यासी और साधु प्रेमी था। उसने उस कुटिया में मेरे आराम का प्रबन्ध किया और खाने के लिए खिचड़ी बनाने का आदेश दिया।

पुस्तक से समाधान

उस कुटिया में एक अलमारी थी। जब मैं वहाँ बैठा हुआ था तो मुझे भीतर से आवाजें सुनाई दीं, जैसे कोई कह रहा हो कि मैं दराज को खोलकर उसके अन्दर पड़ी पुस्तक को पढ़ूँ। पहले तो मैंने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु मेरे अन्दर रह-रह कर वही आवाज आती रही। यहाँ तक कि उस आवाज को अब और अधिक अनसुनी करना मेरे लिए सम्भव नहीं था। मैंने दराज खोलकर किताब उठाई मैंने पुस्तक का जो पृष्ठ खोला उसमें उन तमाम योग-सम्बन्धी अनुभवों का वर्णन था जिनमें से मैं गुजर रहा था। साथ ही उनका समाधान भी था। उसमें स्पष्ट किया गया था कि जिस व्यक्ति को सिद्ध गुरु की कृपा से शक्तिपात होता है, उसकी कुण्डलिनी जागृत होने से ऐसे भिन्न-भिन्न आश्चर्यजनक अनुभव होते रहते हैं। ये सब यौगिक प्रक्रियाएँ हैं। पुस्तक के कुछ पृष्ठ पढ़ने से ही मैं अपनी तमाम मानसिक यातनाओं से मुक्त होकर सर्वथा शान्त हो गया। निस्सन्देह मेरे कई दिन घोर पीड़ा और विषाद में गुजरे किन्तु पुस्तक पढ़ने के बाद मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि जो कुछ मुझे हो रहा है, वह पाप नहीं पुण्यों का ही फल है।

मैंने पिछले तीन दिनों से कुछ नहीं खाया था। खिचड़ी के परोसे जाने पर मैंने उसे बड़े आनन्द और तृप्ति के साथ खाया। भोजन के बाद मैं जी-भर कर सोया।

मैं वहाँ कुछ दिन और ठहरा। मुझे ध्यान बहुत अच्छा होने लगा और तरह-तरह की यौगिक क्रियाएँ होने लगीं। मेरा शरीर अत्यन्त कृश हो गया। देखने वालों को लगता है कि मैं कहीं मर तो नहीं जाऊँगा। किन्तु सभी कुछ अपने आप हो रहा था। मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कर रहा था। जिन्होंने इस यौगिक प्रक्रिया का स्वयं अनुभव किया है केवल वे ही इसे समझ सकते हैं, अन्य नहीं। मैं मूलाधार और शरीर के अन्य भागों में अक्सर दर्द महसूस किया करता था किन्तु मैं अब इसे पीड़ा नहीं मानता था, मैं इसे सुख का साधन ही समझता था। जब भगवान नित्यानन्द की जानकारी में यह बात आई तो उन्होंने भी एक आश्वासन भरा सन्देश भेजा, "तुम्हारे साथ जो कुछ भी हो रहा है, उसमें अच्छाई ही निहित है, तुम घबराओ नहीं।"

अब मुझे विश्वास था कि सब कुछ ठीक ही था। साथ ही मैं यह भी जान गया कि जो अनुभव मुझे हो रहे थे, वे लक्ष्य की चरम प्राप्ति का संकेत नहीं करते थे। यह तो साक्षात्कार के नगर में प्रवेश मात्र था। उसे आत्म-साक्षात्कार का एक प्रकार का पूर्वरूप कहा जा सकता है। यह पूर्णता की प्राप्ति नहीं थी—वह तो अभी बहुत दूर थी। इस प्रवेश को दिव्य-दीक्षा कहा जाता है।

ज्योति दर्शन

मेरी साधना आगे बढ़ती चली गई, साथ ही डरावने दृश्य दीखने प्राय: बिल्कुल बन्द हो गए। लेकिन जैसे ही मैं ध्यान में बैठता मुझे लगता कि मैं जल रहा हूँ। अन्य अवसरों पर मैं जलती चिता को भी देखता था। उन दिनों मैं प्राय: रक्त-वर्ण की ज्योति देखा करता था उस ज्योति की लालिमा सूर्योदयकाल के क्षितिज जैसी होती थी। उसमें कभी-कभी मुझे कई दृश्य भी देखने को मिलते थे। भविष्य में होने वाली घटनाएँ, आने वाली मुलाकातें और उनके द्वारा लाई जाने वाली चीजें—सभी उस ज्योति में चलचित्र के समान प्रकट होती थीं। जलती चिता देखते समय मुझे जो प्रकाश दिखा वह भय के कारण मैं बराबर नहीं देख सका। उसके बाद का अनुभव अभी भी अस्पष्ट है, इसलिए उसका वर्णन मैं आपसे नहीं कर सकता। कुछ समय के बाद मुझे जो रक्त-वर्ण की ज्योति दिखाई देती थी, उसके बारे में मैंने आपको बताया है।

मैं जो कुछ देखता था वह भगवती शक्ति की इच्छा से ही देखता था। उसमें न तो मेरी अपनी कोई इच्छा थी, और न ही इसके लिए मैं अपनी ओर से कोई प्रयत्न ही करता था। वह जो दिखाना चाहती मैं वही देखता था। जब मैं यह खोज कर रहा था कि कहीं इस ज्योति का उल्लेख हुआ है या नहीं तो तुकाराम का यह अभंग मेरी दृष्टि में आया।

रक्त श्वेत कृष्ण पीत प्रभा भिन्न, चिन्मय अंजन सुदले डोळां।
तेणें अंजनगुणें दिव्य दृष्टि झाली, कल्पना निवाली द्वैताद्वैत।

कभी-कभी अत्यन्त मधुर और दिव्य संगीत मेरे सुनने में आता। किन्हीं अवसरों पर मैं अनायास ही कविताएँ लिखने लगता अथवा शास्त्रीय संगीत अपने आप अलापने लगता। तालु-मूल में से कभी अमृत की बूँदें टपकतीं, वे बहुत रसपूर्ण थी। यह अनुभव बहुत अद्भुत था। मेरे अन्दर जिस कुण्डलिनी शक्ति का जागरण हुआ था, यह सब उसी के कारण होता था, मेरे कुछ करने-धरने से नहीं। इन तमाम अनुभवों के बाद मुझे ध्यान में आनन्द आने लगा। वह मुझमें एक नया उल्लास और उमंग भर देता। यहाँ तक कि साधना के दौरान मैं जब कभी बीमार पड़ता तो न ही मैं क्षुब्ध होता और न ही अपने को कमजोर महसूस करता। एक बार मुझे अतिसार हो गया किन्तु मेरी शक्ति क्षीण नहीं हुई और स्फूर्ति वैसी ही बनी रही।

कुछ दिनों के पश्चात् रक्त-वर्ण की वह ज्योति श्वेत-वर्ण में परिवर्तित हो गई। उसका आकार अंगुष्ठ परिमाण जितना था। वह ज्योति कभी दीखती तो कभी ओझल हो जाती थी।

कभी-कभी मैं स्वर्ण ज्योति को भी देखा करता था। यह ज्योति सदा स्थिर नहीं रहती थी। जब वह झिलमिलाती तो मैं उसमें लोक-लोकान्तरों के दर्शन करता था। एक बार मुझे स्वर्गलोक दिखाई दिया था। वहाँ के स्त्री-पुरुष हमारे जैसे ही थे, पर देखने में कहीं अधिक डील-डौल वाले, सुन्दर और स्वस्थ थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया।

(क्रमश:)

☐ डा० श्यामप्रसाद शर्मा

भगवान की दुस्तर माया

भगवान की माया बड़ी दुस्तर है जीव और ईश्वर में भेद डालने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह माया ही है। माया, अविद्या, अज्ञान, भ्रम यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान की यह माया अनेक रूपों में परणित होकर जीवों को मोहित कर रही है। किसी को स्त्री के रूप में, किसी को पुत्र के रूप में, किसी को धन-सम्पत्ति के रूप में, किसी को यौवन और मान-प्रतिष्ठा आदि के रूप में। इस प्रकार सब जीव माया से मोहित होकर संसार चक्र में घूम रहे है तुलसीदास जी ने लिखा है :

तुलसी माया नाथ की,
घट-घट आन पड़ी।
किस-किस को समझाइये,
कूँए भांग पड़ी॥

ईश्वर और जीव के बीच में माया का पर्दा पड़ा हुआ है। वही माया ईश्वर से जीव को नहीं मिलने दे रही है। हमने तस्वीरों एवं कलेण्डरों में श्रीराम, सीता, लक्ष्मण के चित्र देखे हैं। चित्र में दाहिनी ओर श्रीराम खड़े हैं, मध्य में सीता तथा बाँयीं ओर लक्ष्मण खड़े हैं। देखने में तो वह एक सुन्दर चित्र प्रतीत होता है परन्तु अन्तरीय इसका अभि-प्राय इस तरह है।

उभय बीच सिय सोहत कैसे।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

श्रीराम ब्रह्म है, ईश्वर हैं, लक्ष्मण जीव हैं। और सीता माया है। लक्ष्मण चाहते हैं कि राम के साथ एक हो जाऊँ परन्तु सीता रूपी माया उसे एक नहीं होने देती है। यही हाल संसार का है माया का अर्थ है जो न हो फिर भी भासे, यही माया है।

गो गोचर जह मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥

इन्द्रिय और इन्द्रियों के विषयों तक मन जाता है वह सब माया ही है। यह दृश्य वर्ग संसार सब माया का ही खेल है। पहले गर्भ की रचना होती है इसके उपरान्त पुरुष उत्पन्न हो जाता है तब बाल अवस्था फिर युवा हो जाता है, फिर बुढ़ापा आ जाता है। सभी इन्द्रियों की शक्ति समाप्त हो जाती है, यह सब माया का ही खेल है। भूमि में बीज गिराया जाता है उसमें अंकुर की उत्पत्ति होती है तत्पश्चात् वह अंकुर पत्तों से सम्पन्न हो जाता है, फूल एवं फल आ जाता है। एक ही दाना गिरने से उसी शक्ल के अनेक दाने फल में बन जाते हैं। कुछ जल आकाश्य बादलों में लटके रहते हैं कुछ जल राशि भूमि पर नदी, सरोवर झरना, समुद्र आदि में रहते हैं। मेघ लवण समुद्र से खारा जल लेकर मधुर जल के रूप में उसे भू-लोक में बरसाते हैं।

वर्षा ऋतु में सभी नदियों में अथाह जल हो जाता है बावड़ियाँ और तालाब जल से

भर जाते हैं, पर ग्रीष्म ऋतु में उनका जल सूख जाता है। यह सब माया का ही खेल है। रोगों से दुःखी हुए प्राणी औषधियों का सेवन करते हैं और निरोग हो जाते हैं परन्तु कभी-कभी उन्हीं औषधियों का सेवन करते हुए प्राणी की मृत्यु हो जाती है। जाड़े की ऋतु में कुएं का जल गर्म निकलता है। परन्तु ग्रीष्म ऋतु में वही जल ठण्डा हो जाता है।

कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा क्षीण होता चला जाता है यहां तक कि अमावस्या को बिल्कुल ही दिखायी नहीं देता है, परन्तु शुक्ल पक्ष में वही चन्द्रमा बढ़ने लगता है पूर्णमासी को पूर्ण बन जाता है। सूर्य प्रातःकाल पूरब दिशा में उदित होता है और पश्चिम दिशा में जाकर अस्त हो जाता है। अतः जितना भी दृश्य वर्ग संसार में क्रियाकलाप चल रहा है वह सब माया का ही खेल है। जगत् में कोई भी प्राणी इस माया से अछूता नहीं है सभी इस माया के शिकार बने हुए हैं। रामचरित मानस में तुलसी दास महाराज जी ने लिखा है।

चिन्ता नागिन काहि न खाया।
को जग जाहि न व्यापी माया॥

अर्थात्, चिन्ता रूपी सर्पिणी ने सबको डस लिया है ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिसको चिन्ता न हो वैसे ही संसार में कोई भी नहीं है जिसको माया न व्यापी हो। भगवान की यह विचित्र माया है इसका भेद कोई नहीं जान सका है। ऋषि-मुनि भी इसी भगवान की माया का भेद नहीं जान सके हैं। वाराह पुराण में एक अध्याय है कि एक सोम शर्मा नाम के एक ऋषि थे उन्होंने तपस्या के द्वारा भगवान को प्रसन्न कर लिया था भगवान ने उसकी आराधना और उपासना से प्रसन्न होकर उसको दर्शन दिये थे। भगवान ने कहा ब्राह्मण देवता मैं तेरी तपस्या से संतुष्ट हूं तुम जो चाहो वर मांग लो।

सोम शर्मा ने कहा भगवन्! मैं तो आपकी माया का रहस्य जानना चाहता हूँ। तब भगवान ने कहा तुम ऋषिकेश जाओ और गंगा में स्नान करना वहाँ पर तुमको मेरी माया का दर्शन होगा। ब्राह्मण गया और ऋषिकेश पहुँच गया। वहाँ उसने अपने दण्ड-कमण्डल और वस्त्रों को किनारे पर रखकर स्नान करने लगा जैसे ही उसने जल में डुबकी लगायी, वह देखने लगा कि वह किसी निषाद के घर में उसकी स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट हो गया और गर्भ से बाहर आने पर वह एक कन्या के रूप परिणित हो गया है। कन्या बड़ी हुई उसका विवाह एक मल्लाह के साथ हुआ उससे तीन पुत्र, चार पुत्रियाँ उत्पन्न हुई अब वह ब्राह्मण स्त्री के रूप सभी भक्ष्य एवं अभक्ष्य वस्तुओं को खा लेता तथा पेय एवं अपेय वस्तुओं को पी लेता। वह निरन्तर मत्स्य आदि जीवों की हिंसा में प्रवृत्त रहता था तथा कर्तव्य-अकर्तव्य ज्ञान से शून्य हो गया। इस प्रकार उस ब्राह्मण को 50 वर्ष व्यतीत हो गये।

एक दिन वह निषादी अपने मलिन कपड़ों को धोने के लिए गंगा के तट पर गयी और कपड़ों को तट पर रखकर वह स्नान करने के लिए जल में प्रविष्ट हुई उसी क्षण पूर्ववत् वह ब्राह्मण तपस्वी बन गया। स्नान करने के बाद जल से बाहर निकलते ही उसको दण्ड-कमण्डल एवं वस्त्र दिखाई दिये

और उसको पूर्व ज्ञान हो गया उसने अपने कपड़े पहने और लज्जित होकर बालुका पर बैठ गया और अपने को धिक्कारने लगा कि मुझ जैसा पापी और नीच कौन होगा। मैं सदाचार से भ्रष्ट हो गया। मुझे निषाद की योनि में आना पड़ा तथा भक्ष्य, अभक्ष्य, पेय अपेयों का सेवन करना पड़ा। मत्स्य आदि जीवों की हिंसा करनी पड़ी, निषाद की स्त्री बनना पड़ा। कई पुत्र-पुत्रियों की उत्पत्ति की इन सभी बातों का विचार करने लगा।

उधर निषाद क्रोध और दुःख से पागल हो रहा था वह अपने पुत्रों के साथ अपनी भार्या को खोजता हुआ हरिद्वार पहुँचा प्रत्येक तपस्वी से अपनी स्त्री के विषय में पूछने लगा तपस्वियो मेरी स्त्री घड़ा हाथ में लेकर कपड़ा धोने को गंगा तट पर आई थी क्या आप में से किसी ने उसे देखा है फिर वह विलाप करने लगा और कहने लगा अरे प्रिये तुम मुझे और अपने पुत्रों को छोड़कर कहाँ चली गयी हो, दूध पीने वाली बालिका तुम्हारे लिए रो रही है।

तत्पश्चात् उस निषाद की दृष्टि गंगा तट पर रखे हुए उसके घड़ा और वस्त्रों पर पड़ी तब तो वह निषाद अत्यन्त करुणा विलाप करने लगा अहो मेरी स्त्री के घड़ा और वस्त्र तो ये गंगा तट पर पड़े हुए हैं वह बेचारी गंगा में स्नान कर रही होगी तभी किसी मगर ने पानी में पकड़ लिया होगा। अरे प्रिये तुम मुझे और अपने बच्चों को छोड़कर कहाँ चली गयी हो तुम्हारे नन्हे से बच्चे तुम्हें न देखकर विलाप कर रहे हैं। तुम इतनी निर्दयी बन गयी हो कि मुझ और अपने बच्चों पर तनिक भी तरस नहीं ला रही हो। प्रिये तुम मेरे पास आ जाओ देखो ये बालक डर गये हैं, इधर-उधर भटक रहे हैं।

निषाद के इस प्रकार विलाप को वह तपस्वी ब्राह्मण जो निषाद की पत्नी बना था सुन रहा था। निषाद से इस प्रकार लज्जा से कहने लगा, अब तुम जाओ तुम्हारी भार्या अब यहाँ नहीं है। वह तुम्हारा सुख और संयोग लेकर चली गयी अब कभी नहीं लौटेगी, जाओ अब क्यों इतना कष्ट पा रहे हो, अनेक प्रकार के भोजन हैं उनसे बच्चों का पालन करना। इस समय उस तपस्वी ब्राह्मण का हृदय करुणा से भर गया था।

तपस्वी की बात सुनकर निषाद मधुर वाणी में कहने लगा, निश्चय ही आप बड़े तपस्वी हैं क्योंकि आपके वचनों से मुझे कुछ सान्त्वना मिल गयी है। उस समय निषाद की बात सुनकर श्रेष्ट व्रत के पालन करने वाले मुनि के मन में भी दुःख एवं शोक छा गया उन्होंने कहा निषाद तुम्हारा कल्याण हो अब विलाप करना बन्द करो। मैं ही तो तुम्हारी प्रिय पत्नी बना था वही मैं गंगातट पर आकर एक मुनि के रूप में बदल गया हैं। इस प्रकार ब्राह्मण की बातें सुनकर निषाद कहने लगा विप्रवर यह आप क्या कह रहे हैं यह तो आश्चर्य की बात है कि कोई स्त्री होकर पुनः पुरुष हो जाय। ऐसी घटना तो सर्वदा असम्भव है। अब दुःख के कारण ब्राह्मण के मन में भी घबड़ाहट पैदा हो गयी और निषाद से मीठी वाणी में कहा धीवर अब इन बालकों को लेकर तुम यथाशीघ्र अपने घर चले जाओ और सभी बच्चों पर स्नेह रखकर इनका पालन-पोषण करना। फिर भी निषाद गया नहीं वहीं बैठा रहा तथा ब्राह्मण से बोला विप्र तुमने ऐसा कौन-सा पाप कर्म किया था जिसके कारण तुमको स्त्री की योनि प्राप्त हुई और फिर पुरुष हो गये।

इस पर तपस्वी ने कहा निषाद मैंने तपस्या के प्रभाव से भगवान को प्रसन्न कर

लिया था और उनसे वर माँगा कि प्रभो आप अपनी माया का रहस्य दिखलाइये तब भगवान ने कहा ऋषिकेश जाओ वहाँ पर गंगा स्नान के समय तुमको माया दिखलाई पड़ेगी। मैं भी माया के दर्शन की लालसा से गंगा तट पर आया और अपने दंड, कमंडल और वस्त्रों को एक ओर रखकर स्नान करने लगा। इसके बाद मैं कुछ भी नहीं जान सका कि कहाँ क्या है और क्या हो रहा है। तत्पश्चात् मैं एक मल्लाहिन के उदर से कन्या के रूप में पैदा होकर तुम्हारी पत्नी बना और 50 वर्ष तक तुम्हारे साथ रहा। आज मैं फिर गंगा स्नान करने आया और मैं पूर्ववतः तपस्वी बन गया हूँ और मेरे पहले के रखे हुए दंड, कमंडल और वस्त्र वैसे के वैसे रखे हुए हैं। इतना सुनते ही वह निषाद व बच्चे गायब हो गये वह तपस्वी भी अपने नित्य-कर्म में लग गया। दोपहर होने पर वहाँ गंगा स्नान करने आये हुए तपस्वियों ने कहा मुनिवर आप सुबह अपने दंड, कमंडल और वस्त्र रखकर स्नान करके मल्लाहों के पास गये थे फिर क्या आप स्थान भूलकर कहीं अन्यत्र चले गये थे जिससे कि आपके आने में इतनी देर हुई।

जब मुनि ने ब्राह्मणों की बात सुनी तो वह मौन हो गया और सोचने लगा कि कहाँ तो मल्लाह के घर 50 वर्ष तक रहा और यह ब्राह्मण कह रहे हैं कि आप सुबह चले गये थे और दोपहर को आये हो अमावस्या भी आज ही है। इस प्रकार चिन्ता करता हुआ बहुत दुःखी ब्राह्मण बैठा हुआ था तभी भगवान ने आकर कहा कि अरे विप्र तुम इतने मलिन और दुःखी क्यों बैठे हुए हो क्या तुमने कोई विशेष बात देखी है तब ब्राह्मण ने भगवान को नमस्कार किया और कहा कि प्रभो! यह आपकी क्या लीला है। जो इस प्रकार की घटना देखी है। तब भगवान कहने लगे कि विप्रवर दिन दोपहर 50 वर्ष निषाद के घर रहे, पर ये सब कहीं कुछ भी नहीं है यह केवल माया का प्रभाव है।

इस माया के बारे में रामचरित मानस में तुलसी दास जी महाराज जी लिखते हैं :

सुनहु तात यह अकथ कहानी।
समुझत बनहि न जाइ बखानी॥
ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुख राशी॥
सो माया बस भयऊ गोसाईं।
बंध्यो कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गाई।
यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई॥
तबते जीव भयो संसारी।
छूटइ ग्रंथि न होइ सुखारी॥
श्रुत पुराण बहु कहनु उपायी।
छूटन अधिक-अधिक उरझायी॥
जीव हृदय तम मोह बिशेषी।
ग्रंथि छूट किमि परहिं न देखी॥
अस संयोग ईश जब करई।
तबहु कदाचित सो निरुअरई॥

इस माया का छूटने का उपाय श्रीकृष्ण भगवान ने श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है।

दैवी ह्येषा गुण मयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरान्ति ते॥

अर्थात् यह अलौकिक त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते वे हैं इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

माया को सब भजत हैं, माधव भजे न कोय।
जो कोई माधव भजे, माया चेरी होय॥

☐ डा० राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, एम. ए., पी.-एच. डी., बी-एस-सी.

सभ्यता और नागरिकता

कुछ दिन पहले की बात है, एक धनाढ्य भारतवासी विदेश में सैर को गए। एक रात सिनेमा देखकर वह टैक्सी—भाड़े की मोटरकार में अपने निवास-स्थान को वापस लौट रहे थे। ड्राइवर ने यकायक मोटर रोक दी। "क्यों, गाड़ी क्यों रोक दी ?" "देखते नहीं, सामने लाल बत्ती हो रही है।" "तो क्या हुआ, यहाँ कोई पुलिस वाला तो है नहीं, चले क्यों नहीं चलते ?" हमारे धनाढ्य बन्धु से अत्यन्त नम्र भाव से कहा "साहब, यहाँ का यही नियम है। बिजली के द्वारा ट्रैफिक की व्यवस्था होती है और ये बत्तियाँ प्रति दो मिनट बाद स्वतः ही रंग बदलती रहती हैं। जब तक बत्ती का रंग हरा न हो जायगा, मैं आगे न बढ़ सकूँगा।"

अब आप ही विचारिये कि इंगलैण्ड निवासियों के और हमारे नैतिक स्तर में कितना अन्तर है। कहाँ भारतवर्ष का एक सम्मानित धनी व्यक्ति और कहाँ लन्दन की सड़कों पर टैक्सी चलाने वाला एक ड्राइवर।

× × ×

इसी प्रकार नागरिक भावना से सम्बन्धित इङ्गलैण्ड का एक और उदाहरण देखिये, एक रोगी किसान सड़क पर बैठकर मार्ग का एक खड्ड भर रहा था किसी ने पूछा यह क्या कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया अभी इस मार्ग से लड़के कवायद करने के लिये निकलने वाले हैं। सम्भव है, किसी लड़के का पैर इस खड्ड में गिरकर मोच आ जाय ! इसीलिए यह गड्ढा भर रहा हूँ। बीमार हूँ अतः और कर ही क्या सकता हूँ। आगन्तुक व्यक्ति ने उक्त रोगी के शरीर का स्पर्श किया तो वह ज्वर से तप्त पाया ! देश के नवीन आशांकुर उन बालकों की सुरक्षा और स्वास्थ्य का ध्यान उसे रुग्णावस्था में भी सत्कार्य की प्रेरणा प्रदान कर रहा था।

अब आप उक्त व्यक्ति की तुलना कीजिये, उन भारतवासियों से जिनमें बड़े-से-बड़ा आदमी मार्ग में निस्संकोच चाहे जहाँ थूक देता है। केले, मूँगफली आदि के छिलके यों ही चारों ओर बखेर देता है। टूटे हुए शीशे के टुकड़ों को यों ही सड़क पर बिखरा देता है। हमारी गृह-लक्ष्मियाँ घर के दरिद्र को छत से अथवा किवाड़ की ओट से यों ही गली में फेंक देती हैं। फलतः हमारे उठने-बैठने और चलने-फिरने का प्रत्येक स्थान गंदा और दूषित बना रहता है। इतना ही नहीं कभी काँच का टुकड़ा चुभ जाने के कारण हमारे पैर से खून बहता दिखाई देता है, तो कभी केले के छिलके पर पाँव पड़ जाने के कारण हम चारों खाने चित्त गिरते हुए नजर आते हैं। बहुधा ऐसा भी होता है कि

हमारे भाई मौका पाकर सड़क पर मल-त्याग भी कर देते हैं। उसके कारण राहगीरों को कितनी असुविधा होती है, इसे भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं।

इस प्रकार की एक नहीं अनेक घटनायें हमारे जीवन में हर समय घटित होती रहती हैं और हमारे आस-पास रहने वालों को हमारे कारण भाँति-भाँति के कष्ट तथा तरह-तरह की असुविधाएं मिलती रहती हैं। जीवन के इस पक्ष पर सम्भवतः हमने कभी विचार ही नहीं किया।

यहाँ मुझे एक घटना याद आती है। इसका सम्बन्ध हमारे देश के एक वयोवृद्ध लेखक के जीवन से है। पानी बरस रहा था और वह मकानों के सहारे-सहारे चले जा रहे थे, क्योंकि सड़क पर पानी और कीचड़ थी। केवल मकानों से मिला हुआ थोड़ा-सा मार्ग ही सूखा था, जिसकी एक पगडंडी-सी बन गई थी। इधर सामने से एक अन्य सज्जन आ रहे थे। रास्ता एक ही व्यक्ति के चलने योग्य था। जैसे ही वे दोनों महानुभाव एक दूसरे के पास आये, वैसे ही सामने से आने वाले महानुभाव बोले, मैं किसी बदमाश के लिये रास्ता नहीं छोड़ता हूँ। बेचारे लेखक चुपचाप नीचे कीचड़ में उतर गये, यह कहते हुए, पर, भाई, मैं तो सदैव छोड़ देता हूँ।

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। सम्भवतः आप भी जानते हों। एक पुल पर दो बकरियाँ विपरीत दिशाओं में चली जा रही थीं। पुल बहुत ही सँकरा था, उस पर केवल एक ही बकरी के चलने योग्य रास्ता था। यदि दोनों हठपूर्वक एक ही साथ चलने का प्रयत्न करतीं, तो दोनों ही नीचे जा गिरतीं, किन्तु तुरन्त ही एक लेट गई और दूसरी बकरी उसके ऊपर होकर निकल गई। रास्ता साफ हो गया। फिर लेटी हुई बकरी ने भी उठकर अपनी राह ली।

कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे जानवर एक दूसरे की सुख-सुविधा का ध्यान भले ही करलें, परन्तु हम मानव सदैव स्वर्ग को नरक बनाने का प्रयास करते रहते हैं। अनेक पशु-पक्षी एक साथ एक ही खेत में चारा खाते रहते अथवा दाने चुगते रहते हैं। एक ही घाट पर वे एक साथ पानी भी पी लेते हैं, परन्तु हम मनुष्य एक साथ शान्तिपूर्वक बैठ भी नहीं सकते। और उस पर तर्क है यह, कि जहाँ चार बर्तन होंगे वहाँ खटकेंगे ही।

एक ही मालिक के यहां पालतू हो जाने पर कुत्ता और बिल्ली अपना बैर भूल जाते हैं, परन्तु एक ही प्रकृति से निर्मित हम मानव एक साथ निश्चिन्त होकर नहीं रह सकते। सदैव एक दूसरे को चोट पहुँचाने की ही ताक में रहते हैं।

पालतू पशु स्वामी का अन्न खाकर स्वामि-भक्त बन जाते हैं, कुत्तों और घोड़ों की वफादारी से सम्बन्धित आपने अनेक कथायें सुनी होंगी। दूसरे पशु भी स्वामी से आँखें नहीं फेरते। परन्तु मनुष्य सब कुछ खाकर भी धोखा देने का दावा करता है। कुत्ताचोरों को भगाने के लिए प्रसिद्ध है और आदमी घर का भेद बता कर चोरी कराने में, कैसी है यह विडम्बना।

मानवों की आज के दिन यह दशा है कि हम सदैव आक्रमण करने का अवसर ढूंढते रहते हैं। सबको धोखा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि हमारे ऊपर विश्वास करके हमारा भाई तनिक गाफिल हो जाए और हम उसे चक्कू मार दें।

सच बात तो यह है कि हम कहीं भी, किसी के भी साथ मानवों जैसा व्यवहार नहीं करते। किसी के पास जाकर थोड़े-से शब्दों में और हमदर्दी के साथ अपनी बात नहीं कहते, कोई हमारे पास आता है, तो हम उचित बात नहीं करते, सड़क पर चलते हैं तो आस-पास वालों से टक्कर देकर चलते हैं, छत पर खड़े होते हैं तो नीचे गली में चलने वालों का ध्यान नहीं रखते, माइक्रोफोन पर रातभर रेकार्ड बजाकर हम पड़ोसियों की नींद हराम कर देते हैं।

हमारे इन कलुषित व्यवहारों एवं अत्यन्त दूषित वातावरण का एक मात्र कारण है नागरिकता का अभाव। घर में, स्कूल में, बाहर, भीतर, सोते, जागते, धोखे में अथवा जानबूझकर कभी किसी ने हमें यह बताया ही नहीं कि शिष्ट एवं सभ्य होना मनुष्य का पहला धर्म है।

सभ्यता का व्युत्पत्यार्थ इस प्रकार कहा गया है—सभया साधवः सभ्याः। अर्थात् जो सभा अथवा जन-समाज में साधु भले हों, वे ही सभ्य हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि—

सभ्यता का सम्बन्ध सुख के साधनों की सम्पन्नता के साथ कम है और मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार और सम्बन्ध के साथ अधिक है। केवल चुङ्गी की सीमा के अन्दर अथवा नगर में रह लेने से कोई नागरिक नहीं बन जाता। नागरिक वह है जो प्रसिद्ध अँग्रेजी निबन्ध-लेखक न्यूमैन के शब्दों में "कभी किसी की असुविधा का कारण नहीं बनता।"

किसी भी देश का नैतिक स्तर उसके निवासियों के प्रति-दिन के व्यवहारों के अनुरूप ही आँका जाता है। हम चाहते हैं कि हमारे देश के निवासियों को नागरिकता सम्बन्धी व्यावहारिक बातें बताई जायें। व्याख्यानों द्वारा, पाठ्य-पुस्तकों द्वारा, पेम्फलेटों द्वारा, सिनेमाओं द्वारा तथा अन्य अनेक साधनों द्वारा यह कार्य सरलता पूर्वक पूरा किया जा सकता है। विदेशों में इस ओर सफल प्रयास किये जा चुके हैं। मनुष्य बनने के लिये हमें अच्छा पड़ोसी बनना पड़ेगा।

युक्त योग

सुखी और स्वस्थ जीवन का मार्ग वही है जो हमारे ऋषियों ने दर्शन-शास्त्रों में बताया है। भगवान श्रीकृष्ण ने जिस जीवन-दर्शन का संकेत गीता में दिया है, यदि हम उसीके अनुसार अपना रहन-सहन, खाना-पीना, सोना-जागना युक्त बनालें तो हम अपना जीवन निरापद बना सकते हैं। जैसे—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

देखो, सवेरा आ रहा है !

[श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', एम. ए, रिसर्च स्कॉलर]

आँख खोलो सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
निविड़तम तम पी धरा का
ज्योति में भर प्राण अपने
साधना का दीप ले जो
कर गया साकार सपने
स्वर्ग से भू-पर उतर आलोक उसका गा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
देश की काली निशा फिर
हँस उठे आलोक पाकर
स्नेह का मधु-दान करता
जी सके मानव धरा पर
प्रेम का सन्देश अम्बर को जगाने जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
शोध — शालाएँ करो अब
बन्द सब विज्ञान की ये
बन रहीं हैं आज ग्राहक
मनुजता के प्राण की ये।
रक्त की ले प्यास मानव असुर बनने जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
तुम न अणु बम से सकोगे
जीत मानव के हृदय को
सो रहे हो, जाग जाओ
क्यों बुलाते हो प्रलय को,
हो रही शंख-ध्वनि युग एक बीता जा रहा है,
आँख खोलो, सामने देखो, सवेरा आ रहा है।
चाहते हो सुमन बन कर
भू – गगन में सुरभि भरना
झूल जीवन – डाल पर यदि,
प्रेम – जग में झूम झरना
तो हृदय खोलो, मिलो, मानव अकेला जा रहा है,
आँख खोलो सामने देखो सवेरा आ रहा है।

□ व्याख्याकार—श्री रामावतार विद्याभास्कर

महर्षि चाणक्य के कुछ जीवन-सूत्र

विभवानुरूपमाभरणम् ।। १ ।।

मनुष्य अपने देह की सजावटको अपनी आर्थिक स्थिति में सीमित रक्खे।

देह को सुसज्जित रखना समाज में प्रचलित है। मानव का यह स्वभाव अति न कर जाय इसलिए इस पर नियन्त्रण की परम आवश्यकता है। वही नियन्त्रण इस सूत्र का अभिप्राय है। पशुओं में देह को सुसज्जित रखने की प्रवृत्ति नहीं होती। पशु के पास मन नहीं है। मनुष्य का विवेकी मन जहाँ उसे आध्यात्मिक सम्पत्ति से सुसज्जित देखना चाहता है वहाँ वह उसे लोकविद्विष्ट असुन्दर वेष में भी रहने देना नहीं चाहता। देह को सौम्यदर्शन बनाकर रखना मनुष्य की ही विशेषता है। उसकी यह विशेषता मानवोचित शिष्टाचारों में सम्मिलित हो गई है। शिष्टाचार मनुष्य समाज का अलंकार है। शिष्टाचार ही मनुष्य समाज की सम्पत्ति है। जो समाजभर का अलंकार है वही व्यक्ति के व्यक्तिगत आचरण का भी अलंकार है। परन्तु ध्यान रहे कि देह को सुसज्जित रखना समाज की शिष्टाचाररूपी सम्पत्ति में ही सीमित रहना चाहिये। किसी का भी अपनी देह को सामाजिक शिष्टाचार के विरुद्ध सज्जित करने का अधिकार नहीं है।

मनुष्य अपनी देह को सजाने की प्रवृत्ति वाले मानव धर्म से तब ही अलंकृत कर सकता है जब वह इस सम्बन्धी शिष्टाचार का पालन करे। मानव धर्म या मनुष्यता ही समाज तथा व्यक्ति की साम्पत्तिक या आर्थिक स्थिति या वैभव है। पार्थिव धन की बहुलता या न्यूनता का मानव धर्म नाम वाली उस वैभवमयी स्थिति में वैषम्य उत्पन्न करने वाली नहीं बनने देना चाहिये। यह विषमता समाज में अशान्ति उत्पन्न करने वाली सामाजिक व्याधि है। अपने देह को अलंकृत करने के इस स्वाभाविक स्वभाव को कदापि किसी भी प्रकार अपना सीमोल्लंघन नहीं करने देना चाहिये। अपने देहालंकरणी स्वभाव को व्यक्ति के हृदय को व्याधिग्रस्त करके समाज के भी हृदय को व्याधिग्रस्त करने वाला नहीं बनने देना चाहिये। मनुष्यता समाज भर का समानाधिकार है। समाज में मनुष्यता रूपी समानाधिकार को उपेक्षित नहीं होने देना चाहिये। समाज में मनुष्यता रूपी समानाधिकार की उपेक्षा होने पर धन सम्पत्ति के साथ नियम से लगी रहने वाली भेदोत्पादक ईर्ष्या द्वेष, लोभ, अतृप्त कामना आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा समाज के सामाजिक अधिकार में विघ्न आ खड़े होते हैं। इससे समाज अलंकृत होने के स्थान में बीभत्स विषमरूप धारण कर लेता है। समाज के विज्ञ लोगों को उसे ऐसा बनने देने से रोकना चाहिये।

देश को अलंकृत करना व्यक्ति का स्वेच्छाचार नहीं होना चाहिये।

देह को अलंकृत करने के अधिकार को व्यक्ति के स्वेच्छाचार में सम्मिलित न होने देकर उसे सामाजिक शिष्टाचार, सुरुचि तथा नैतिक कल्याण में सम्मिलित रखना चाहिये। क्योंकि सामाजिक कल्याण में ही मानव का कल्याण है इसलिए सामाजिक शिष्टाचार, सुरुचि तथा मानव का नैतिक अभ्युत्थान ही मनुष्य का सच्चा वैभव या आर्थिक सामर्थ्य है। परमार्थ ही मनुष्य का सच्चा वैभव है। अपनी उपार्जित स्वर्ण-मुद्राओं पर यथेच्छ उपयोग का व्यक्तिगत अधिकार जमा लेना व्यक्ति तथा समाज तथा दोनों ही के लिये अनर्थकारी है।

सत्य ही मनुष्य की सार्वजनिक सम्पत्ति है। सत्यरूपी सार्वजनिक सम्पत्ति के अधिकार में समर्पित हो जाने वाले व्यक्ति का धन, उसका व्यक्तिगत धन न रहकर समाज के सार्वजनिक कल्याण के उपयोग में आसकने वाला सार्वजनिक धन बन जाता है। जब मनुष्य इस समाज धर्म को भूलकर भ्रान्ति से धन पर मनुष्य का अधिकार मान लेता है तब ही वह अपने धन पर अपना अधिकार मानता है। यह उसकी भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्ति का परिणाम यह होता है कि वह अपने धन का दुरुपयोग करके समाज का अकल्याण करने में प्रवृत्त हो जाता है। सूत्र कहना चाहता है कि देह सजाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को साम्पत्तिक दुरुपयोग से बचाकर रखना चाहिये। अपने देह पर वस्त्रालंकार धारण करने से पहले सावधान होकर सोच लेना चाहिये कि हमारी उस चेष्टा का हमारे समाज पर क्या प्रभाव होगा? वह प्रभाव समाज में ईर्ष्या कामना या किसी के किसी प्रकार के अधःपतन का कारण तो नहीं बन जायगा?

समाजवादी प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपनी वेश-भूषा के सम्बन्ध में सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से विचार किया करे और उत्सव सम्मेलन तथा स्वाभाविक, सामाजिक अनुष्ठानों के अवसरों पर आडम्बर रहित शिष्टाचार की सीमा में शासित रहकर उसमें सम्मिलित हुआ करें। विज्ञ मनुष्यों का कर्तव्य है कि वे अपने परिवार के सदस्यों से भी वेशभूषा के सम्बन्ध में सामाजिक सुरुचि को सुरक्षित रखवाने का ध्यान रखें। देह को अलंकृत करने के अधिकार को अपना सीमोल्लंघन करने देना कदापि अभीष्ट नहीं होना चाहिए।

कुलानुरूपं वृत्तम् ॥ २ ॥

आचरण अपने अभ्यर्हित कुल के अनुरूप होना चाहिये।

अपने आचरणों से अपने यशस्वी कुल की मर्यादा की रक्षा करना चाहिये। ज्ञानी समाज ही मनुष्य का कुल है। ज्ञानी समाज ही राष्ट्र की राजशक्ति का निर्माता है। वही प्रभु या स्वामी बनकर राजशक्ति को सर्वहितकारी ज्ञानमार्ग पर चलाता है। इसीलिये प्रत्येक मनुष्य का ज्ञानी समाज का सदस्य बने रहना ही अपना स्वाभिमान है। इस बात को कभी न भूलकर अपने स्वभाव को सामाजिक सुख-समृद्धि में सीमित रखना चाहिये। ज्ञानी ही मनुष्य समाज का यशस्वी

विशाल कुल है। ज्ञानियों के कुल में जन्म लेने वालों से यह आशा की जाती है कि उनका सदाचार उनकी नीतिपरायणता आदि ऊँची श्रेणी की हो। उनका आचार निर्मल तथा हृदयग्राही हो। निकृष्ट आचरण बताते हैं कि यह मनुष्य किसी हीनकुल की प्रसूति है।

कुलानुरूप वित्तम्

वित्त मनुष्य के पास अपनी कुल परम्परा की उपार्जन योग्यता के अनुसार होता है।

कार्यानुरूपः प्रयत्नः ॥ ३ ॥

प्रयत्न कर्म के अनुसार होना चाहिये।

कार्य की लघुता या गुरुता के अनुरूप ही प्रयत्न भी लघु या गुरु होना चाहिये। कार्य की लघुता या गुरुता के अनुसार सामग्री एकत्रित करके कार्य का उपक्रम करना चाहिये। जैसे साधन जुटाये जायेंगे, जैसा प्रयत्न किया जायगा, वैसा ही फल प्राप्त होगा। कर्त्तव्य छेड़ने से पहले उसका उचित समय, उसके सहायक, उसके अनुरूप देश, अपनी धनशक्ति, उत्साह शक्ति, उससे होने वाले लाभ तथा अपनी कर्म शक्ति की इयत्ता से पूरा परिचित होना चाहिये। कर्तव्य प्रारम्भ करने से पहले सोचना चाहिये यह काम मेरे स्वयं करने का है या दूसरों से कराने का है? अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये है? या समाज की उचित सेवा के लिये है? अभी करने का है? या भविष्य में हितकारी है? या अनिष्ट सम्भावनाओं से भरपूर है या नहीं?

कः कालः कानि मित्राणि
को देशः को व्ययागमौ।
कोवाहं का च मे शक्ति-
रिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

कार्योपयोगी काल सहायक मित्र कार्योपयोगी देश है या नहीं? मेरे आय-व्यय इस कार्य को करने की आज्ञा देते हैं या नहीं? मेरी स्थिति क्या है? मुझे यह काम करना चाहिये या नहीं? यह मेरी शक्ति में है या शक्ति से बाहर है? ये सब प्रत्येक कार्यारम्भ में सदा सोचनी चाहिये। इन प्रश्नों का उचित समाधान होने पर ही काम करना चाहिये।

पात्रानुरूपं दानम् ॥ ४ ॥

दान तथा उसकी मात्रा, दानपात्र की उत्तमता, मध्यमता तथा अधमता अर्थात् उसकी विद्या, गुण, अवस्था तथा आवश्यकता रूपी योग्यता के अनुसार होना चाहिये।

दीन, रोगी, निराश्रय, अनाथ, पंगु, अंधे, विपन्न, निर्धन, विद्यार्थी, देव, द्विज, गुरु, विद्वान् की जीवन यात्रा तथा समाजोत्थान के कामों में विभवानुसार दान देकर अपने समाज को सुखी, सम्पन्न, सद्गुणी बनाये रखना चाहिये। यों भी कह सकते हैं कि समाज तथा अपने में अभेद सम्बन्ध का दर्शन करते रहकर समाज के अभ्युत्थान को अपना ही अभ्युत्थान मानना चाहिये। हमारे पास रखे हुए धन का जो यथार्थ स्वामी था वह याचक का मिष लेकर हमारे सामने आ खड़ा हुआ, इसकी धरोहर इसे सौंप कर उऋण हो जाना ही दान का यथार्थ स्वरूप है।

अर्थानुरूपं दानम्।

दान अपनी अर्थ शक्ति के अनुरूप होना चाहिये। □

□ श्री विष्णुप्रसाद व्यास

—: आशा :—

आशा की खूंटी पर संसार लटका हुआ है। जो वस्तु कहीं अन्तरिक्ष में झूल रही होगी वह स्थिर नहीं हो सकती। वृक्ष चाहे अपनी जड़ द्वारा धरती में धंसे हुए हैं परन्तु मूल के अतिरिक्त पेड़ के तने डाली आदि ऊपर का भाग पवन में झूला करते हैं। शाखाएं-प्रशाखाएं छोटी-छोटी टहनियाँ, पत्ते, कलियाँ, फूल और फल सबके सब हवा के झोंकों में डोलते रहने के लिए बने हैं। इसी प्रकार से जो भी चीजें सूखने के लिए वायु में फैला दी जाती हैं वे कब अचल हो सकीं? ऐसे ही वह मनुष्य जब तक किसी भी आशा-किरण के प्रकाश में अपनी समस्याओं को सुलझाने में लगा रहेगा तब तक अशान्त रहेगा। आशा आशा ही है— वह कभी भी निश्चित रूप से नित्य सुख नहीं दे सकती। मनुष्य के हर संकल्पों को यह आन्दोलित कर देती है। पक्का इरादा बनाकर कोई व्यक्ति घर से निकलता है— मार्ग में कोई घनिष्ठ मित्र मिल जाता है। उससे बातचीत होने लगी, प्रसंग वश उस मनुष्य ने अपने मन की बात मित्र पर प्रकट कर दी। मित्र ने उसके दृढ़ संकल्प को ऐसे ढंग से लिया कि वह बेचारा डोल गया। मित्र ने इतना ही कहा कि तुम्हारी सारी योजनायें ऐसे के ऐसे ही धरी रह जायेंगी—आजकल शासन की ओर से बने हुए नियम और विधान इतने जटिल हैं कि इनसे सफलता मिलने की सम्भावना बहुत कम है। व्यक्ति कहता है कि मैं भी समझता हूँ कि आज का युग बहुत पेचीदा हो गया है—दाल गलना मुश्किल है। परन्तु प्रयत्न करने में क्या हानि है। हो सकता है दाँव लग ही जाय। कोई न कोई साधन ऐसा बन जाय या किसी ऊँचे अधिकारी को हम पर दया आ जाय तो सब मामला तय हो ही जायगा।

अब इस सारी बातचीत के पीछे कौन सी शक्ति बैठी है जो उन दोनों के मनों का सहारा दे रही हो वह है 'आशा।' आशा पर ही जीवन आधारित है। क्षयरोग (तपेदिक) का भयंकर रोगी है। जीर्ण-ज्वर उसे रहता है। शरीर गले जा रहा है। फेफड़े पूरी तरह काम नहीं करते। भूख-प्यास का कोई हिसाब-किताब नहीं। मित्र, बन्धु, बान्धवों की तरफ से निराशा के स्वर उसके कानों में पड़ते रहते हैं। संगी-साथियों से एक तरह से वह दुत्कारा जा चुका है—जीवन की घड़ियाँ गिन रहा है। चिकित्सकों ने साफ कह दिया है कि अब तो हमारे पास कोई दवा है नहीं मृत्यु ही तुम्हारी एक मात्र औषध बाकी रह गई है जो आकर तुम्हारी सम्पूर्ण पीड़ाओं को एक पल में दूर लेगी।

इतनी दुर्दशा में भी यदि कोई उससे पूछता है कि क्यों भाई! अब कैसी तबियत

है—देखो कितने दुःखों ने तुम्हें आ घेरा है। जीवन की कोई आशा दिखाई नहीं देती फिर कैसे चल रहे हो ? वह महादुःखी प्राणी भी यही उत्तर देता है "जब तक श्वास तब तक आस" शायद ईश्वर को रहम आ जाय डॉक्टर की कोई दवाई लग जाय कोई दयावान् भगवान का प्यारा साधु फकीर ही आकर मुझे जीवन दान दे जाय। क्या पता ! इसी आशा की धूमिल-ज्योति जलाकर जी रहा है। ऐसी है यह परिसूक्ष्म आशा। जहाँ अणु शक्ति भी कार्य नहीं कर सकती वहाँ आशा का स्वच्छन्द प्रवेश है। डॉक्टर, बन्धु, बान्धव, दवाइयाँ अपना शरीर परिस्थितियाँ तक भी जब मौन हो जाती हैं तब वहाँ आशा की शीतल फुहार पहुँच कर आकुल-व्याकुल और जीवन से निराश मनुष्य को सान्त्वना दे जाती है।

परन्तु आशा वस्तुतः एक 'ढोल में पोल' है। इसमें ठोस तत्व कुछ भी नहीं। मिथ्या स्वप्न है मन की कल्पना है एक झोंका है भ्रम और भ्रान्ति है—मृग तृष्णा कह दे तो भी असत्य न होगा। मृग-तृष्णा भी क्या है ? एक आशा की झलकी की कल्पना करके ही तो हिरन कुलाचें भरता-फिरता है जब तक रेत चमकती है उसकी आशा का दीप जलता रहता है ज्यों ही चमक मिटी यथार्थ सामने आ गया। यथार्थ रेत थी—पानी का तो आभास था, सत्य उसके सम्मुख प्रकट हो गया। मृग सिर पीटकर रह गया—होता क्या है थकान से चूर-चूर हुआ वह कुरंग काल के गाल में समा गया। आशा की ही तारों पर उसके जीवन की जो चादर फड़फड़ा रही थी—वह नीचे आ गिरी।

परन्तु मनीषियों और तत्वदर्शियों के अनुभव सिद्ध वचन कहते हैं—"नैराश्यं परमं सुखम्" निराशा में ही पूर्ण सुख समा रहा है। आशा तो बिजली की कौंध है : क्षण भर के लिए आती है—प्राणों को पल भर के लिए चमका देती है और जीवन को सहारा देकर फिर निराशा के घोर तिमिर में छोड़ जाती है। सारा गगन-मंडल तो काली घटाओं से घिरा हुआ है—बीच में क्षण भर के लिए बिजली ने चमक दे दी तो कौन-सा कार्य हमारा हो गया। इसलिए इसकी चकाचौंध के आधार पर एक कर्मयोगी को अपने पूर्ण किये जाने वाले इरादों को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। आशा का वह आश्वासन क्षणस्थायी है। पुरुषार्थ ही देव है। प्रयत्नों में ढील न हो—परन्तु यदि हम आशा को एक मिथ्या कल्पना मात्र ठहराते हैं तो भी हृदय नहीं मानता।

आशा की कल्पना निर्बल नहीं होती। इसमें उग्र शक्ति है। इसका प्रचण्ड वेग है। इसकी पकड़ उतनी सुदृढ़ होती है कि जो अमेरिका और रूस के वैज्ञानिकों को पृथ्वी लोक से उठाकर चन्द्र-मंगल और शुक्र के यहाँ तक भगाये फिरती है। अरबों रुपयों का व्यय करवाती है उनके जीवन को शंका कुल कर देती है परन्तु वे लोग जा ही रहे हैं—अनेक बार तो चन्द्रलोक में चक्कर काट आये। आधार उनका कौन बनी है ? आशा किसकी ? किसी उपयोगी तत्व को खोज निकालने की, चन्द्र के धरातल को देख लेने की अपने राष्ट्र को गौरवशाली बनाने की। जो आशा ऐसे असम्भव कार्यों को भी प्रत्यक्ष किये जा रही है उसे हम झूठी कल्पना अथवा भ्रांति मात्र कहलवाकर संतुष्ट नहीं होसकते।

आशा ही एक प्रकार की टॉर्च है जिसे हाथ में लिये हुए घटाटोप अन्धकार में भी एक मनुष्य निशङ्क होकर जा सकता है।

निराश पुरुष का क्या जीवन ! गणित में बड़े-बड़े प्रश्नों को निकालने के लिए पहले कल्पना ही करनी पड़ती है-चालीस मंजिलों वाले भव्य भवन का एक नक्शा पहले एक कागज पर ही बना लिया जाता है। ये सब आशा के ही चमत्कार हैं। बड़ी से बड़ी योजनायें जो भी बनाई जाती हैं, पंचवर्षीय कार्यक्रम बड़े-बड़े राष्ट्रों के मन्त्रिमण्डल बनाते हैं। किस आधार पर? केवल एक आशा पर। भाव यह कि आशा जीवन में प्रतिपल उत्साह देने वाली उसके अनुकूल परिणामों को सुलझाने वाली मनमोहिनी शक्ति जैसी है-एक प्रकार से हर के जीवन का जैसी आधार बनी हुई है। विजय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःख, मान-सम्मान, हर्ष-शोक आदि जितने भी द्वन्द्वों के मोती हैं जो इसी आशा के तार में पिरोये रहते हैं। यही मरणासन्न जीव में नवीन जीवन भरती है।

परन्तु परमार्थी साधक को कर्मनिष्ठ होना चाहिये। भक्त कभी भी आशा की नदी में अपनी जीवन नौका को यों ही नहीं बहा देते। वे अपनी साधना को दृढ़ कर लेते हैं। उनके लिये क्रियमाण कर्म ही मुख्य होता है। जब तक आरम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण नहीं कर लेते वे विश्राम नहीं पाते। "प्रारम्भनोत्तम-जनाः न परित्यजन्ति" श्रेष्ठ पुरुष कार्य को प्रारम्भ कर देते हैं उसे बीच में नहीं छोड़ा करते—भर्तृहरि, नीतिशतक—

भगवान का भक्त का आधार मर्मज्ञ त्रिकालदर्शी, सर्वशक्तिमान सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी परमात्मा होते हैं।

गुरु भक्त के सर्वस्व सर्वशक्ति सम्पन्न, सकल, गुण निधान सन्त सद्गुरु देवजी होते हैं। गुरु भक्त को फिर कैसी निराशा ! उसने जब अपना तन-मन-धन ही अपने इष्टदेव जी के चरणों में समर्पित कर दिया तो उसका अपना क्या रहा। जिसकी वह चिन्ता करे। वह जो कर्म भी करता है केवल उनकी श्री कृपा को अपने सामने रखकर-उन्हीं की आज्ञा का वह पाबंद होता है। उसे उस कार्य के फल की जब इच्छा ही शेष नहीं रही तो वह क्यों आशा और निराशा के झूले में झूलता फिरे ? आशा की चिड़िया फलाकांक्षा के वृक्षों पर फुदकती-कुदकती रहती है। गुरु-शिष्य जब निष्काम ही हो गया तो उसके पास आशा किस मतलब के लिये आयेगी ? जिस गुरुमुख साधक के मन में यहां तक भाव काम कर रहा है कि "करे करावे आपो आप" और जो अपने आपको कर्त्ता तक भी नहीं मानता तो उसके मन की क्यारी में आशा का अंकुर फूटेगा क्यों कर ? जबकि वहां बीज भी नहीं डाला गया—वह तो अपने आपको उस कार्य को करने का "निमित्तमात्र" समझता है।

जगद् गुरु श्रीकृष्णचन्द्र महाराज ने वीर अर्जुन को जब वह उनकी शरण में आ चुका था—पहला पाठ यही पढ़ाया था कि :

सुख-दुःख समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पापमवाप्स्यसि ।।

—गीता अ. 2 श्लोक 38

हे अर्जुन ! जीत-हार, लाभ-हानि, सुख-दुःख को पहले समान समझ ले उसके बाद युद्ध करने के लिए तैयार हो जा इस प्रकार संग्राम करने से तुझे पाप नहीं लगेगा।

इन वचनों से भगवान अर्जुन की पहले अध्याय में उठाई हुई सब शंकाओं को निर्मूल कर देते हैं। सम होकर जब युद्ध करेगा तब न तुझे स्वर्ग पाने की इच्छा रहेगी और न सम्बन्धियों को मारने का पाप ही तुझे लगेगा।

गुरु-मुख ही समान रहने का पूर्णाभ्यास किया करता है। जब वह समभाव से सब कार्य करता है तो वहाँ आशा को सिर उठाने का कोई अवकाश ही नहीं मिलता।

इसीलिये परमार्थ के पथ पर चलने वाले एक जिज्ञासु को समर्थ सद्गुरु देवजी की चरण-शरण ग्रहण करनी ही चाहिये जिससे वह आशा-निराशा के चक्र में फँसे ही नहीं आशा सदा फल की होती है।

कर्म करने में आशा का हाथ नहीं होता। स्वयं बुद्धि और विवेक के द्वारा साधक निर्णय कर लेता है कि मुझे यह काम करना ही है। क्यों-कैसे-कब-कहाँ ये सारी शंकायें सद्-गुरुदेव की आज्ञा मिलने के साथ ही काफूर हो जाती हैं। गुरुमुख इतना ही जानता है कि मैं कर्म इसलिए कर रहा हूँ कि मुझे श्री गुरुदेव की आज्ञा हुई है। 'उनकी प्रसन्नता मुझे मिले' ऐसी आशा को भी अपने मन में निष्काम सेवक गुरुमुख कभी जगह न देगा— उसे तो आज्ञा का बड़ी ही सुन्दरता से परि-पालन करना है—आगे उनकी पवित्र मौज है कि वह प्रेमी के कार्य को जिस रूप में ले— यह अधिकार उनका है सेवक का नहीं—फिर फल की आशा के काँटे को शिष्य क्यों चिप-टाये रखे। सैनिक का धर्म है कि वह सेना-पति का हुकुम मानकर गोली चलादे बस।

सन्त महापुरुष ही अपने प्रेमियों के सम्पूर्ण जीवन के भार को अपने पर ले लेते हैं। जीव चौबीस घण्टे निश्चिन्त और निष्काम रहता है उसे न चिन्ता और न आशा सताया करती है।

जो जीव आशा की नदी में कूद पड़ते हैं तो उनके मनोरथ ही जल बनकर उस नदी को भरा रखते हैं। एक इच्छा तो होती है नहीं जो वह पूर्ण हो गई तो मनुष्य इच्छा रहित हो जाता—यहाँ तो इच्छायें जल की बाढ़ के समान पसरती रहती हैं। इच्छाओं की पूर्ति आशा को साथ बाँधे फिरती है। यदि कहीं सौभाग्यवश एक आशा जो 1000) रु. जोड़ने की थी वह पूरी हो गई फिर आशा बड़ी सहेली है तृष्णा को भी बुला लेती है। वह तृष्णा आकर कहती है कि आज के युग में एक हजार की कोई कीमत है—दो दिन का खर्चा कम से कम दस हजार तो संचित करना ही चाहिये। यदि कहीं यह भी हो गया तो लाखों करोड़ों को बटोरने की अभिलाषा सिर उठायेगी दस करोड़ रुपया भी मान लीजिये हो गया तो फिर उस धन राशि से हो जायगा राग। यह राग-रूपी मगरमच्छ भी आशा की नदी में तैरता फिरेगा। अनेक प्रकार की चितायें और कल्पनायें पक्षी बनकर चित्त की बगिया में किलोल किया करेंगे। जब मन में इच्छाओं का जाल बिछ जायगा तो जीवनोद्यान में से धैर्य के पेड़ टूट कर गिर जायेंगे। मनुष्य अधीर रहेगा। उसके हृदय में अनेक प्रकार की तरंगें हर घड़ी उछल-कूद करती रहेंगी, उसका जीवन अशान्त हो जायगा-मस्तिष्क में हर समय कोई न कोई चिन्ता उसे कुरेदती रहेगी। वह दुःख दुःखी, बेचैन होकर परेशानियों से तंग आ जायेगा।

ज्यों-ज्यों माया पसरती जायगी त्यों-त्यों वह मोह की घुमन-घेरियों में उलझता जायगा। आशा नदी के भँवरों के बीच में जब उसकी नाव अटकी होगी तब उसके मन की हालत का अन्दाजा तो लगाइये कैसी होगी? संसार के रंगीन-नजारे उसकी चहल-पहल उसके लिए कोई महत्त्व न रखेंगे। हर वक्त वह गमगीन-उदास और निराश-सा बन जायगा। अनेक प्रकार की कलह-कल्पनाओं

के चक्रव्यूह में वह सुखी पुरुष ऐसा बंध जायगा तो उसे जीना भी दूभर हो जायगा। अपनी ही बटोरी हुई माया उसको सुख देने की बजाय अपार दुखों का साधन बन जायगी। विपदाओं के इतने डरावने जाल की जड़ क्या है—आशा के दिखाये हुए सब्ज बाग।

अब आप सोचिये कि इस चिन्ता की धधकती हुई ज्वाला में बैठा हुआ वह पुरुष किसको सुख दे सकेगा। मकान द्वारा सन्तान, नौकर-चाकर, घोड़ा-गाड़ी, सोने-चाँदी के आभूषण कोठी की सजावट क्या उसके टूक-टूक हुए मन को बहला लेगी? नहीं कदापि नहीं।

ऐसी जिन्दगी की जब परीक्षा करते हैं तो यही विचार सामने आता है कि इस भाग्यहीन पुरुष ने उस सम्पत्ति को बटोरने में अपने शरीर, मन, बुद्धि और चित्त की सारी ताकतों को होम दिया। जो अपने आप में अनित्य है, नश्वर है और जीवन के आनन्द को सोख लेती है—सबसे बड़ी हानि-कारक बात तो यह है कि वह सन्त सत्पुरुषों की संगति में जाने का नाम नहीं लेने देती—मन और बुद्धि पर ऐसी छा जाती है जो भगवान के नाम का स्मरण ही भूल जाता है। आशा की मकड़ी ने ही सारा जाल अपने मुख से निकाला और स्वयं ही उसमें फँस गई—इतना ही नहीं उदर पूर्ति के लिए उस जाले को अन्य जीवों की हत्या करने का साधन बना लिया यह सब विस्तार आशा का ही है। सतरंगी इन्द्र धनुष के समान यह आशा सबके मन को मोह लेती है परन्तु देखते-देखते ही कहीं तिरोहित हो जाती है।

जैसे सुख की कामना करने वाला पुरुष ही दुख का अनुभव कर सकता है वैसे ही जो आशाओं के जाल शेखचिल्ली की तरह हर समय बुना करता है सचमुच निराशाओं का सामना भी उसी को करना होगा। आशा की सुनहरी धूप का जिसने आनन्द लिया निराशा की ठंडी छाया भी उसी को सहनी पड़ेगी। इसीलिए श्री सन्त महापुरुष यही विमल आदेश देते हैं कि जिन मनुष्यों को परमार्थ पथ पर पग बढ़ने की इच्छा है वे आशा को पास न लगायें। गुरुमुख का धर्म यही है कि वह अपनी सम्पूर्ण आशाओं को अपने इष्टदेव के हाथों में सौंप दें। वह सम रहना सीखें। अपनी सुरति सुख-दुखादि की लहरों में न उलझावे। आशा-निराशा के चक्कर में न पड़े। वह अपनी सुरति को सब तरह से समेट कर केवल सद्गुरु के दिये हुए शब्द में ही लगाने का भरपूर यत्न करे।

सुखी आत्मा वही है जो अन्दर से विराट है। किसीके प्रति उसे राग नहीं। कहीं उसने आशा के तार नहीं जोड़े हैं। आशाओं के जाल में उलझा हुआ यह है सारा संसार। इच्छाओं को पूरा करने में ही मनुष्य अपने अमूल्य श्वासों को खर्च किये जा रहा है। न इच्छाओं का कहीं ओर-छोर दिखाई देता है और न उनकी पूर्ति कहीं समाप्त होती दिखाई देती है, क्या यह मनुष्य जन्म व्यर्थ ही इसी उधेड़ बुन में भटक जायगा?

पत्रं पुष्पं फलं तोयम्

(चाणक्य नीति से)

आयु कर्म च वित्तञ्च विद्यानिधनमेव च ।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥

उम्र, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु ये पाँच बातें जीव के गर्भ में ही लिख दी जाती हैं ।

एकोऽपि गुणवान पुत्रो निर्गुणैश्च शतैवरम ।
एकश्चन्द्रः तमो हन्ति न च तारा: सहस्त्रशः ॥

एक ही गुणी पुत्र सैकड़ों गुण रहित पुत्रों से अच्छा है । जैसे अकेला ही चन्द्रमा अन्धकार का नाश कर देता है जिसे सहस्रों तारे भी दूर नहीं कर सकते ।

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या ।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाग्निः षट् न प्रदहन्ति कायम् ॥

दुर ग्राम में रहना, नीच कुल की सेवा, खराब भोजन, क्रोधमुखी स्त्री, मूर्ख पुत्र, विधवा नारी ये छः आग के बिना ही देह को जला देते हैं ।

संसारतापदग्धानां त्रयो विश्रान्तिहेतवः ।
अपत्यं च कलत्रं च संतां संगतिरेव च ॥

संसार के दुःख से दुखित पुरुषों को तीन ही विश्राम के कारण हैं, सन्तान, स्त्री और साधु-संगति ।

अपुत्रस्यगृहं शून्यं दिशः शून्यास्त्वबान्धाः ।
मूर्खस्य हृदयं शून्यं सर्वशून्यं दरिद्रता ॥

बिना पुत्र के घर सूना है, बिना बन्धुओं के दिशायें सूनी हैं मूर्ख का हृदय शून्य है और निर्धन का सब सूना है ।

कः कालः कानि मित्राणि कः देशः कः व्ययागमो ।
कस्याहं काचमेशक्तिरितिचिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

मेरा यह समय कैसा है, मेरा मित्र कौन है, मेरा देश कौन-सा है, मेरा आय-व्यय क्या है, मैं क्या हूँ और मुझ में क्या शक्ति है यह बार-बार सोचना चाहिए ?

अग्निर्देवो द्विजातीनां मनीषिणां हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र समदर्शिनाम् ।।

द्विजातियों का देवता अग्नि है, मनुष्य के देवता हृदय में रहते हैं, अल्प बुद्धि वालों का देवता मूर्ति है, और समदर्शियों के लिए सभी स्थानों में देवता है।

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदन तापताडनैः ।
तथा चतुर्भि पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ।।

जैसे घिसना, काटना, तपाना, पीटना इन चार तरीकों से सोने की परीक्षा की जाती है वैसे ही त्याग, शील, गुण और आचार इन चार रीतियों से पुरुष की परीक्षा की जाती है।

यावद्भयेन भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतंतु भयं वाक्ष्य प्रहर्तव्यमशङ्कया ।।

तभी तक भय से डरना चाहिए जब तक भय तुम्हारे पास न आया हो, आए भय को देख निडर होकर सामना करना चाहिए।

अभ्यासाद्धार्यते विद्या कुलं शीलेन धार्यते ।
गुणेन ज्ञायते त्वार्यःकोपो नेत्रेण गम्यते ।।

अभ्यास से विद्या का, सुशीलता से वंश का, गुण से भले मनुष्य का और आंखों से क्रोध का पता लगता है।

नास्ति कामसमो व्याधिः नास्ति मोहसमो रिपुः ।
नास्ति कोपसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम् ।।

काम के समान और कोई रोग नहीं है, अज्ञान के समान और कोई दुश्मन नहीं है, क्रोध के समान कोई आग नहीं है, ज्ञान से बढ़कर और कोई सुख नहीं है।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च ।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रंमृतस्य च ।।

विदेश में विद्या मित्र है, गृह में स्त्री मित्र है, औषधि रोगियों का मित्र है और धर्म मरे हुए का मित्र है।

तुम संसार की असार वस्तुओं एवं सुखों के साथ समझौता करके जीवन की बहुमूल्यवान सम्पदा नष्ट न करो। जब तक तुम्हें संसार की वस्तुयें प्रिय लगती रहेंगी, तब तक अहंकार, कलह, कलंक, शोक, मत्सर, लोभादि दोषों से छुटकारा न होगा। —एक संत

गीता का अनासक्ति योग

(महात्मा गांधी का दृष्टिकोण)

[भारतवर्ष में भगवान श्रीकृष्ण का श्रीमद्भगवद्गीता ही एकमात्र ऐसा ग्रंथ है जिसके अनुवाद संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में हुए हैं। नागरी लिपि में तो इस पर बहुसंख्यक व्याख्या-ग्रंथ लिखे गये हैं। अधिकांश मनीषियों का कहना रहा है कि गीता-दर्शन जीवन-दर्शन ही है। मनुष्य का व्यावहारिक-जीवन कैसा हो, जीवन का लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यही गीता का लक्ष्य है जिसे योगराज श्रीकृष्ण ने अर्जुन को प्रतीक बनाकर संसार को उपदेशित किया है। अनासक्तियोग गांधी जी का इसी दृष्टि से किया गया विवेचन है जिसके मुख्य-मुख्य अंश हम यहां देने का प्रयास कर रहे हैं। —सम्पादक]

अच्छा क्या है और बुरा क्या है, यह जानने की इच्छा तक जिसके मन में नहीं होती, उसके सामने धर्म की बातों का क्या मूल्य है? धर्म-जिज्ञासा के बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता। दुख के बिना सुख नहीं मिलता। सभी जिज्ञासुओं को एक बार धर्म-वेदना, धर्म-संकट, हृदय-मंथन होता ही है।

धृतराष्ट्र बोले :

हे संजय! मुझ से कहो कि धर्मक्षेत्र-रूप कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पांडु के पुत्रों ने क्या किया?

कुरुक्षेत्र का युद्ध निमित्त मात्र है। अथवा सच्चा कुरुक्षेत्र हमारा शरीर है। उसकी उत्पत्ति पाप से है और पाप का भाजन बनकर वह रहता है। इसलिए वह कुरुक्षेत्र है।

वह कुरुक्षेत्र है और धर्मक्षेत्र भी है, क्योंकि वह मोक्ष का द्वार बन सकता है।

यदि हम शरीर को ईश्वर का निवास-स्थान मानें और बनायें, तो वह धर्मक्षेत्र है।

उस क्षेत्र में प्रतिदिन कोई न कोई युद्ध हमारे सामने होता रहता है।

कौरव अर्थात् आसुरी वृत्तियां। पांडुपुत्र अर्थात् दैवी वृत्तियां। प्रत्येक शरीर में भली और बुरी वृत्तियों के बीच युद्ध चलता ही रहता है, ऐसा कौन मनुष्य अनुभव नहीं करता? और ऐसे अधिकतर युद्ध तो 'वह मेरा' और 'यह तेरा' के कारण होते हैं। स्वजन-परजन के भेद से ऐसे युद्ध होते हैं।

संजय बोले :

उस समय पांडवों की सेना को व्यूहबद्ध देखकर राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण के पास जाकर बोले :

दुर्योधन बोले :

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहबद्ध की हुई पांडवों की इस विशाल सेना को देखिए।

यहां भीम और अर्जुन के समान लड़ने में शूर-वीर महाधनुर्धारी, युयुधान (सात्यकि), विराट, महारथी द्रुपद राजा, धृष्टकेतु, चेकितान, तेजस्वी काशिराज, पुरुजित् कुंतिभोज और मानवों में श्रेष्ठ शैब्य तथा पराक्रमी युधामन्यु, बलवान उत्तमौजा, सुभद्रा-पुत्र (अभिमन्यु) और द्रौपदी के पुत्र (दिखाई देते) हैं। वे सभी महारथी हैं।

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अब हमारे जो मुख्य योद्धा हैं उन्हें आप जान लें। मेरी सेना के (इन) नायकों के नाम आपके ध्यान में आ जायें, इसलिए मैं आपको बता देता हूँ।

एक तो आप हैं। [फिर] भीष्म, कर्ण, युद्ध में जय प्राप्त करने वाले कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा हैं। इनके अतिरिक्त, दूसरे भी अनेक शूर-वीर योद्धा मेरे लिए प्राण अर्पण करने की तैयारी से खड़े हैं। वे सब विविध प्रकार के शस्त्र चलाने वाले और युद्ध की कला में कुशल हैं।

[फिर भी] भीष्म द्वारा रक्षित हमारी सेना का बल अपूर्ण है, जबकि भीम से रक्षित पांडवों की सेना पूर्ण है।

इसलिए आप सब अपने-अपने स्थान से सब मार्गों पर भीष्म पितामह की ही रक्षा भली-भांति करें।

[इस प्रकार दुर्योधन ने कहा, परन्तु द्रोणाचार्य ने उत्तर में कुछ भी नहीं कहा।]

संजय कहते हैं :

इतने में दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिए कुरुओं के वृद्ध पुरुष प्रतापी भीष्म पितामह ने ऊँचे स्वर से सिंहनाद करके अपना शंख बजाया।

उसके बाद शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग और रणसिंघे सब एकसाथ बज उठे। वह आवाज अत्यन्त भयानक थी।

ऐसे समय सफेद घोड़ों वाले बड़े रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने अपने दिव्य शंख बजाये।

श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख बजाया। धनंजय-अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। भयानक कर्म करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपना अनंतविजय नामक शंख बजाया और नकुल ने सुघोष तथा सहदेव ने मणिपुष्प नामक शंख बजाये।

इसी प्रकार, बड़े धनुष वाले काशिराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, राजा विराट, अपराजित सात्यकि, द्रुपद-राज, द्रौपदी के पुत्र, सुभद्रा-पुत्र महाबाहु अभिमन्यु— इन सब ने हे राजन्, अपने अलग-अलग शंख बजाये।

पृथ्वी और आकाश को गूंजा देने वाले इस भयंकर नाद में कौरवों के हृदय मानो चीर डाले।

अब हे राजन्! जिसकी ध्वजा पर हनुमान हैं ऐसे अर्जुन ने कौरवों को व्यूहबद्ध देखकर, हथियार चलने की तैयारी के समय, अपना धनुष चढ़ाकर हृषीकेश से ये वचन कहे :

अर्जुन बोले :

हे अच्युत! मेरे रथ को (जरा) दो सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा कर दीजिये : जिससे युद्ध की कामना से खड़े हुए लोगों को मैं देखूं और जानूं कि इस रण-संग्राम में मुझे किस किसके साथ लड़ना है। दुष्ट बुद्धि वाले दुर्योधन का युद्ध में प्रिय कार्य करने की इच्छा वाले जो योद्धा यहाँ एकत्र हुए हैं, उन्हें मैं देखूं तो सही।

संजय बोले :

हे राजन्! जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से ऐसा कहा तब उन्होंने दोनों सेनाओं के बीच सारे राजाओं तथा भीष्म और द्रोण के सामने वह उत्तम रथ खड़ा करके कहा :

हे पार्थ! एकत्र हुए इन कौरवों को तू देख।' (क्रमश:)

☐ ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश पालीवाल

श्री सद्गुरु चन्द्रमोहन—चालीसा

श्री गुरुचरण-कमलेभ्यो नमः

दोहा—

श्री गुरु-चरण हृदय धरि,
पद रज गुरु सिर धार ।
बरनउं सद्गुरु विमल यश,
बन्दहुँ बारम्बार ॥
चन्द्रमोहन गुरुदेव प्रभु,
योगी योगाधार ।
योग समाधी, ध्यान देउ,
हरहु समस्त विकार ॥
पतितपावन, कलिमल हरन,
मंगल मोहन रूप ।
रामलाल प्रभुवर सहित,
हृदय बसहु दोउ रूप ॥
योग शिरोमणि, सिद्धगुरु,
कृपा सिन्धु भगवान ।
भक्तन के कल्याण हित,
कलियुग प्रगटे आन ॥

चौपाई—

जय गुरुदेव योग रत्नाकर ।
योग योगेश्वर देव दिवाकर ॥1
तुम अज्ञान तिमिर के नाशक ।
योग ज्ञान के परम प्रकाशक ॥2
चन्द्रमोहन शीतल सुख दाता ।
चन्द्रकला अमृत बरसाता ॥3
सोलह कला कृष्ण अवतारी ।
चन्द्ररूप मोहन छवि प्यारी ॥4
रामलाल प्रभु गुरू तुम्हारे ।
शिष्य शिरोमणि प्रभु के प्यारे ॥5
नमो नमो जय जय गुरुदेवा ।
ब्रह्मा, विष्णु, देव महादेवा ॥6
देवीराम सुत परम दुलारे ।
माता—चरती के सुत प्यारे ॥7
ग्राम अलूपुर जन्म लिया था ।
ब्राह्मण कुल को धन्य किया था ॥8
विजयादशमी शुभ दिन चुनकर ।
प्रगट भये मोहन नर, तन धर ॥9
जब जब होय योग की हानी ।
बढ़ें रोग-भोगी अभिमानी ॥10
तब नर देह धरि तुम आते ।
योग ज्ञान दे सबको जाते ॥11
बाल-कृष्ण संग करते लीला ।
कृष्ण रूप अतिशय प्रिय शीला ॥12
सिद्धगुफा आ धाम सवाँई ।
निज गुरुवर की महिमा गाई ॥13
सादा धोती कुर्ता धारे ।
सोहत कर में छड़ी तुम्हारे ॥14
तपो तेजमय रूप मनोहर ।
मन के मोही मोहन गुरुवर ॥15

दिव्य पुरुष, मद, मोह, प्रहारी।
गौ, द्विज, भक्त, दीन हितकारी ॥16
रामदूत तुम, योग-प्रचारक।
योग ज्योति के परम प्रसारक ॥17
शंकर सम थे भोले-भाले।
कृष्ण चन्द्र सम, बड़े निराले ॥18
सूरज वंशी प्रभु रामलाला।
चन्द्र वंशी चन्द्रमोहन बाला ॥19
तुम सद्गुरु, हम शिष्य तुम्हारे।
तुम चन्द्रा हम सब हैं तारे ॥20
सर्व सिद्धिप्रद, गुरु वरदायक।
संकट हरन परम सुखदायक ॥21
रज, प्रसाद, दे पुष्प प्रसादा।
काटत संकट, मोह विषादा ॥22
सबको देकर ज्ञान योग का।
काटत बन्धन महा मोह का ॥23
नित प्रति करें तुम्हारी पूजा।
गुरु भगवान भाव नहिं दूजा ॥24
शिष्य वही जग में बड़ भागी।
जो गुरु वचन, चरण अनुरागी ॥25
पुण्य न एहि सम जग में दूजा।
मन क्रम, वचन, गुरुपद पूजा ॥26
गुरु पूजा में सब की पूजा।
गुरु सम देव और नहिं दूजा ॥27
जो नित करे गुरु की सेवा।
तापर कृपा करें, सब देवा ॥28
मंत्र मूल गुरु वचनहिं मानो।
सद्गुरु कृपा मोक्षप्रद जानो ॥29
ध्यान मूल गुरु मूरति भाई।
पूजनीय गुरुपद सुखदाई ॥30
गुरु मंत्र में गुरु का वासा।
जप गुरु मंत्र रहें गुरु पासा ॥31
जो गुरु मंत्र जपत लव लावे।
होहि सिद्ध, अणिमादिक पावे ॥32
गुरु पद परसि हरि पद पावे।
गुरु पूजा, हरि पूजा जावे ॥33
सब तीरथ गुरु, चरण मझारे।
हैं सब देव रूप गुरु धारे ॥34
गुरु उपकार न भूलो भाई।
गुरु ऋण, उरिण के करो उपाई ॥35
धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ावे।
गुरु सन्मुख चालीसा गावे ॥36
जनम-जनम के पाप नसावे।
अन्तकाल गुरु पुर में जावे ॥37
प्रात:काल नित बा गुरु-वारा।
पढ़ें, सुनें, चालीसा प्यारा ॥38
जो नित पढ़ें, गुरु चालीसा।
उनकी रक्षा करें गिरीशा ॥39
जो शतबार पाठ कर जोई।
निश्चित कृपा गुरु की होई ॥40

संकट हरन गुरु भगवानाष्टक

मत्तगयन्द छन्द

जो नर श्रद्धा प्रेम से, गुरु चालीसा गाय।
उनके सकल मनोरथ, पूर्ण करें गुरु आप ॥

चन्द्रमोहन गुरुदेव महाप्रभु,
भक्तन हित जग तुम अवतारो।
जब-जब भक्त पर संकट में पड़ा,
तब तब प्रभु आ कष्ट निवारो ॥
जब दीन दुखी आके विनय करो,
तब रज प्रसाद दे कष्ट निवारो।
हम सब जानत हैं तुमको गुरु,
कष्ट हरन है काम तिहारो ॥1
रोगी असाध्य निरोग किए बहु,
आये जो सुनि गुरु नाम तिहारो।

जीवन-तत्व षटकर्म करा पुनि,
सब विधि उनको कियो सुधारो।
करी कृपा, दुखी दीन जनों पर,
रोग, शोक, मद, मोह निवारो।
सब कोई जान गयो जग में श्री,
चन्द्रमोहन गुरु नाम तिहारो ॥2

पुत्रहीन धनहीन दुखी जन,
आये बहुत सुनि नाम तुम्हारो।
पुत्र दिए धन धाम दिए उन,
पुष्प प्रसाद दे कष्ट निवारो।
खाली न गया है, तेरे दरसे कोई,
है ये सिद्ध गुफा का प्रताप तिहारो।
पतित अनेक उद्धार किए तुम,
अति पतितन को पार उतारो ॥3

दुष्ट अनेक किए तुम सज्जन,
शरण-चरण जिन गहो तिहारो।
प्रेतहू, बाधा औ भूत भगाय के,
आधि व्याधि सब संकट टारो।
सब जग जान गया तुमको गुरु,
अधम उधारन काम तिहारो ॥4

शक्तिपात दीक्षा तुम दे,
अजपा जप मुक्ती का मंत्र तिहारो।
सोऽहं हंसा श्वांस जपे जो,
आत्म ज्योति प्रगटत उजियारो।
योगी बनो गुरु मंत्र जपो,
सबको है, यही उपदेश तिहारो।

बद्ध जीव के मुक्ति हेतु हित,
जग में है, प्रभु अवतार तिहारो ॥5

तव शक्ति लखी, सामर्थ्य लखी,
अनहोनी को भी क्षण में कर डारो।
कौन सा संकट ऐसो महाप्रभु,
जो तुम सौं नहि जात है टारो।
दूरि करो गुरुदेव दयानिधि,
जो भी हो, संकट-कष्ट हमारो।
हम सब जानत हैं सब विधि गुरु,
कष्ट हरण का है काम तिहारो ॥6

काज किए हैं, बड़े से बड़े तुम,
यह सब अपनी ही आंख निहारो।
लखनऊ आश्रम का प्रिय शिष्य जो,
मोहनलाल एक शिष्य तिहारो।
दिल्ली हुआ दिल का आपरेशन,
काल के गाल से जाहि निकारो।
तबसे हम जान गये तुमको,
यह जीवन दान भी काम तुम्हारो ॥7

बिनती सुनो प्रभु करके कृपा,
तुम बिन जग में को रखवारो।
तेरे हैं तुमसे ही दुखी कहें,
और कौन सुने दुख दर्द हमारो।
'ओम प्रकाश' भरो उर में,
मम शीश कृपा रहे, हाथ तिहारो।
हम सब जानत है तुमको गुरु,
देना आशीष भी काम तिहारो ॥8

कहा कमी जाके गुरु धनी जो जग बैरी होय।
गुरु समरथ सिर पर खड़े, मारि सकै नहि कोय ॥

जीवन का कुटिल मार्ग और मोक्ष मार्ग ?

महाभारत के अश्वमेधपर्वान्तर्गत कृष्ण-युधिष्ठिर संवाद में मृत्यु और अमृत्यु का यह लक्षण किया गया है :

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥

अर्थात्, कुटिल जीवन का नाम मृत्यु और ऋजु जीवन ब्रह्मपद किंवा मोक्ष का मार्ग है। ज्ञान का सार इतना ही है। कुटिलता अनृत और सरलता ऋत का पन्थ है। लोक-लोकान्तरों में ऋत का अन्तर्यामी सूत्र पिरोया हुआ है, समस्त चराचर उसी ऋत या आर्जवयुक्त मार्ग से गतिशील हो रहे हैं। ग्रह, उपग्रह, सूर्य, नक्षत्र सब ऋत के अनुगामी हैं। वही उनका प्रकृति विहित संचरण-मार्ग है—

ऋत—Right path, Orbit.

विराट् जगत् की दिव्य शक्तियाँ या देव ऋत के निर्धारित मार्ग से अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं। इसीलिए ऋषियों ने देवों का लक्षण किया है :

सत्यसंहिता वै देवाः । अनृतसंहिता मनुष्याः ।

—ऐत० ब्रा० 1/6

अर्थात्, देव सत्य से युक्त होते हैं और मनुष्य अनृत से भरे हुए।

सत्यमेव देवाः अनृतं मनुष्याः । —शत० 1/1/1/4

देव और मनुष्य का अन्तर सत्य और अनृत का अन्तर है। शरीर धारण करके मनुष्य होने के नाते हम अनृत में सने हुए हैं। उस अनृत का क्रमशः परित्याग करके सत्य की प्राप्ति ही मोक्ष-प्राप्ति है। समस्त यज्ञों के प्रतिपादक यजुर्वेद में पहली प्रतिज्ञा यजमान के लिए यही है कि हम अनृत से छूट कर सत्य की प्राप्ति करें। श्रुति का अमूल्य आदेश भी यही है :

असतो मा सद् गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय ॥

—उत-ज्योति

विनम्र निवेदन

(दिसम्बर सन् 1993) के प्रस्तुत अङ्क के साथ, 'सिद्धयोग' अपने जीवन के 26 वर्ष और नौ मास व्यतीत कर चुका है। वर्तमान प्रकाशन वर्ष में तीन अङ्कों के प्रकाशन के पश्चात् यह अपने 27 वें वर्ष में नये विशेषांक के साथ प्रवेश करेगा। नये वर्ष का विशेषांक पूज्यपाद गुरुदेवजी और उनके प्रिय शिष्योंके भावभीने प्रेरक संस्मरणों से युक्त रहेगा। योग सिद्धान्तों पर सिद्धयोग के जाने-माने तथा अन्य विशिष्ट अध्यात्म-परायण विद्वानों के लेखों का संयोजन भी रहेगा। श्री गुरुदेवजी के अनेक सद्शिष्यों के ध्यानानुभव भी इस अङ्क की अपनी विशेषता होगी। यदि गुरु भाई-बहन अभी से इस विशेषांक सहित नये वर्ष का वार्षिक मूल्य कार्यालय में जमा करा देने की कृपा करेंगे तो इस विशेषांक को सुन्दर, पठनीय और आकर्षक बनाने में हमें और अधिक सुविधा होगी।

पूज्य गुरुदेव की उपस्थिति में समूल्य 'सिद्धयोग' पढ़ने वालों की जो संख्या थी उसमें निरन्तर कमी होते जाना इसके प्रकाशन-मार्ग में प्रमुख बाधा रही है। चिन्तनीय भी इसे इसलिए कहा जा सकता है कि श्रद्धेय श्री गुरुदेवजी द्वारा संस्थापित इस एकमात्र योग-सिद्धान्तों के प्रचारक मासिक का ग्राहक-क्षेत्र दिनोंदिन अधिक बढ़ने के बजाय अपनी इच्छित संख्या से भी निरन्तर घटता चला जा रहा है। यदि यही क्रम जारी रहा तो निश्चित रूप से इसका नियमित प्रकाशन एवं प्रकाशन सम्बन्धी सभी भावी योजनायें बिना पूर्णता के बिन्दु पर पहुँचे समाप्त होने की आशंका ही सामने खड़ी ही रहेगी। यह मानना भी असंगत न होगा कि 'सिद्धयोग-प्रकाशन' में आश्रम का अन्तःकलह भी चाहे वह न्यायालय में हो या न्यायालय के बाहर हो विशेष बाधक रहा है। इसे दूर करने-कराने के सभी सत्प्रयास असफल से ही रहे हैं। यह भी खेद की बात ही रही है कि कोई सर्व-सम्मत समाधान गत दो वर्ष से अधिक का समय व्यतीत हो जाने पर भी अब तक नहीं निकल पाया है।

फिर भी इस अन्तराल में सिद्धयोग के प्रकाशार्थ जिन भाई-बहनों व अन्य विशिष्ट महानुभावों ने अपना सहयोग प्रदान करने में अपनी जो रुचि दर्शायी है उसके लिए प्रकाशन-व्यवस्था अपना आभार प्रकट करना आवश्यक समझती है। निश्चय ही यह सब बधाई के पात्र हैं साथ ही सिद्धयोग के उन सभी लेखकों के प्रति भी आभार प्रकट करना हमारा अपना दायित्व है जो अपनी मानसिक ज्ञान राशि को सिद्धयोग में प्रकाशनार्थ भेजने की कृपा नियमित रूप से करते आ रहे हैं। अन्त में उपरोक्त सभी सिद्धयोग-परिवार को सहयोग देने वाले बन्धुओं से हमारा यह निवेदन है कि सिद्धयोग की ग्राहक संख्या बढ़ाने में अपना थोड़ा-थोड़ा सहयोग प्रदान करने की कृपा अपने-अपने क्षेत्रों में और करें। उनकी थोड़ी सक्रियता ही सिद्धयोग के जीवन वृद्धि का कारण बनेगी। यही उन सबकी आकांक्षा और अपेक्षा है, जो सिद्धयोग का प्रकाशन निरन्तर जारी रखना चाहते हैं।

भवदीय :

प्रकाशक

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008. DECEMBER, 1993

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ______________________

____

____

____

प्रार्थना मुंह से नहीं अन्तःकरण से करो !

हम प्रार्थना मुँह से ही करते हैं, अन्तःकरण से नहीं। इसीलिए यथेष्ट फल नहीं होता। आन्तरिक होने पर वह फलीभूत होगी ही। जब मन में आये कि जप-ध्यान करने से कुछ भी फल नहीं मिल रहा है, तब खुद के भीतर कहाँ, क्या गलती है, पात्र के किस छिद्र से सब पानी निकल जाता है इसे ही ढूंढ निकालो और स्वयं सुधारने की चेष्टा करो। संसार, विषय, और कामकांचनादि में पूरी मात्रा में आसक्ति रहते, जप-ध्यान करना छोड़ ही नहीं देना चाहिए, समय आने पर फल मिलेगा ही, क्रमशः विषयसुख असार और अलोने लगेंगे और भगवान् की ओर आकर्षण तथा प्रेम बढ़ने लगेगा, उनके ध्यान में ही पूर्ण आनन्द मिलेगा।

—योगिराज चन्द्रमोहन

प्रकाशक एवं मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' द्वारा कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काजी, ताजगंज, आगरा से मुद्रित एवं श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (आगरा) से प्रकाशित। फोन: 360426